

अंक : ११५

जुलाई-सितंबर २०११

कथाषिख

कथाप्रधान त्रैमासिक पत्रिका



कहानियां

राजेंद्र वर्मा, डॉ. इला प्रसाद,
ललित निरंजन, सुमन सारस्वत, अमर स्नेह

सागर-सीपी

डॉ. कमल किशोर गोयनका

आमने-सामने

मुकेश शर्मा

१५
रुपये

जुलाई-सितंबर २०११

(१९७९ से प्रकाशित)

कथाबिंब

प्रधान संपादक

डॉ. माधव सक्सेना "अरविंद"

संपादिका

मंजुश्री

संपादन सहयोग

प्रबोध कुमार गोविल

जय प्रकाश त्रिपाठी

अश्विनी कुमार मिश्र

हम्माद अहमद खान

संपादन-संचालन पूर्णतः

अवैतनिक तथा अव्यवसायिक

● सदस्यता शुल्क ●

आजीवन : ५०० रु., त्रैवार्षिक : १२५ रु.,

वार्षिक : ५० रु.,

(वार्षिक शुल्क ५ रु. के डाक टिकटों के रूप में भी स्वीकार्य है)

कृपया सदस्यता शुल्क

चैक (कमीशन जोड़कर),

मनीऑर्डर, डिमांड ड्राफ्ट द्वारा

केवल "कथाबिंब" के नाम ही भेजें.

● रचनाएं व शुल्क भेजने का पता ●

ए-१० बसेरा, ऑफ दिन-क्वारी रोड,

देवनार, मुंबई-४०० ०८८.

फोन : २५५१ ५५४१, ९८१९१६२६४८

● न्यूयॉर्क संपर्क ●

Naresh Mittal, Gerard Pharmacy,

903 Gerard Avenue, Bronx NY 10452 Tel :

718-293-2285, 845-304-2414 (M)

● "कथाबिंब" वेबसाइट पर उपलब्ध ●
www.kathabimb.com

e-mail : kathabimb@yahoo.com

(कृपया रचनाएं भेजने के लिए ई-मेल का प्रयोग न करें.)

एक प्रति का मूल्य : १५ रु.

कृपया नमूने की प्रति मंगाने हेतु

१५ रु. के डाक टिकट अवश्य भेजें.

(सामान्य अंक : ४०-४४ पृष्ठ)

क्रम

कहानियां

॥ ७ ॥ नवारंभ / राजेंद्र वर्मा

॥ १३ ॥ दबंग / डॉ. इला प्रसाद

॥ १९ ॥ नहीं, वह गंगा ही था ! / ललित निरंजन

॥ २७ ॥ छोटे लोग, बड़े लोग / सुमन सारस्वत

॥ ३१ ॥ मां, तुम कहां हो ! / अमर स्नेह

लघुकथाएं

॥ ११ ॥ नन्हीं चिड़िया / मीना गुप्ता

॥ २४ ॥ अच्छी जगह / डॉ. प्रद्युम्न भल्ला

॥ ४५ ॥ लघुशोध / नीता श्रीवास्तव

॥ ४७ ॥ अनोखा व्यापार / ज्ञानदेव मुकेश

कविताएं / गज़लें

॥ ६ ॥ अन्ना हज़ारे / हुमायूं जमील

॥ १२ ॥ खबरों की दुनिया में / डॉ. प्रभा मजुमुदार

॥ ३० ॥ गज़लें / मनाज़िर हसन "शाहीन"

॥ ४९ ॥ गज़ल / तारकेश्वर शर्मा

॥ ५१ ॥ गज़ल / वी. पी. दुबे

स्तंभ

॥ २ ॥ "कुछ कही, कुछ अनकही"

॥ ४ ॥ लेटर बॉक्स

॥ ३५ ॥ "आमने-सामने" / मुकेश शर्मा

॥ ४२ ॥ "सागर-सीपी" / डॉ. कमल किशोर गोयनका

॥ ५० ॥ "बाइस्कोप" (सविता बजाज) / सुदर्शन फाकिर

॥ ५२ ॥ वातायन

॥ ५३ ॥ पुस्तक-समीक्षाएं

आवरण चित्र : डॉ. अरविंद

रोहिणी नदी के तट पर (माधोपुर, गोरखपुर)

"कथाबिंब" मुंबई की "संस्कृति संरक्षण संस्था" के सौजन्य से प्रकाशित होती है.

कुछ कही, कुछ अनाकही

यह प्रसन्नता का विषय है कि जिस मिशनरी भावना के तहत ३२-३३ वर्ष पूर्व “कथाबिंब” का प्रकाशन प्रारंभ किया था उस पर, आयु के इस मुकाम पर हम आज भी कायम हैं। अपनी आयु के लगभग आधे वर्ष निस्वार्थ भाव और निष्ठा पूर्वक पत्रिका के प्रकाशन-संपादन के माध्यम से मां सरस्वती की सेवा कर सका यह सोच कर मन आह्लाद से भर उठता है। लेखकों और पाठकों के सहयोग ने मुझे सदैव एक ऊर्जा, एक शक्ति दी है। महज आभार प्रकट करना उनके योगदान को कम करना होगा।

पिछले कुछ वर्षों से पत्रिका प्रकाशन में हमें “संस्कृति संरक्षण संस्था” का सहयोग भी प्राप्त हो रहा है। “कथाबिंब” के माध्यम से समय-समय पर संस्था की गतिविधियों की जानकारी दी जाती है। संस्था ने जिस काम का बीड़ा उठाया है वह बहुत ही बड़ा है। दानशील और समाजसेवी स्थानीय व्यक्तियों से निवेदन है कि वे हमारे कार्य में हाथ बंटाने के लिए आगे आएं। इस वर्ष भी संस्था ने, “संस्कृत श्लोक-वाचन प्रतियोगिता” आयोजित की। प्रतियोगिता में विभिन्न स्कूलों के ५वीं से ७वीं कक्षाओं के लगभग १००० छात्रों ने प्रथम चरण में भाग लिया। चुने हुए ४० छात्रों ने अंतिम चरण में रविवार, २८ अगस्त को प्रतियोगिता में भाग लिया। इसी प्रकार १३ से १७ व १८ से २४ वर्षों के छात्रों के लिए दो वर्गों में १८ सितंबर २०११ को ऑन-द-स्पॉट “काव्य-सृजन प्रतियोगिता” आयोजित की गयी। पिछले वर्ष इस प्रतियोगिता में करीब ५० विद्यार्थियों ने भाग लिया था किंतु इस बार १५० विद्यार्थियों ने हिस्सा लिया।

अब इस अंक की कहानियों का ट्रेलर – युवाओं के गांवों से शहरों की ओर अभिगमन और संयुक्त परिवार टूटने के कारण आज अधिकांश भारतवासियों के लिए वृद्धावस्था एक अभिशाप के रूप में सामने आती है। लड़का-बहू मां-बाप को बहुत मज़बूरी में साथ रखना चाहते हैं। राजेंद्र वर्मा की कहानी “नवारंभ” में मां नहीं हैं। बहू-बेटा चाहते हैं कि सेवानिवृत्ति के बाद पिता को मिले पैसों को किसी भी तरह अपने उपयोग में ले आएं। किंतु साहित्यकार पिता, ओंकार नाथ बाबू एक पत्रिका, “नवारंभ” का शुभारंभ करते हैं। इस प्रकार वृद्धावस्था में भी उनके जीवन को एक नया अर्थ मिल जाता है। अंक की पांचवीं और अंतिम कहानी “मां, तुम कहां हो !” में पिता नहीं हैं। बेटा और बहू मां को संगम स्नान कराने के बहाने वहीं छोड़ जाते हैं। मां, सरवन बेटे को पुकारती रहती है लेकिन बेटे का कहीं पता नहीं है। हमारे समाज में स्त्री के लिए वैधव्य एक अभिशाप ही है। अंक की दूसरी कहानी “दबंग” की लेखिका हैं प्रवासी डॉ. इला प्रसाद। अमरीका में एक भारतीय महिला के लिए शिक्षिका के रूप में काम करना बहुत ही चुनौती पूर्ण है। वहां के नियम ऐसे हैं कि छात्र पढ़ें या न पढ़ें उन्हें दंड नहीं दिया जा सकता। वे चाहे कितनी शैतानी कर लें। शिक्षा संस्थान के प्रबंधकों को ज़रा भी लगे कि शिक्षिका ने ज़्यादाती की है तो उसे नौकरी से हाथ धोना पड़ सकता है। “नहीं, वह गंगा ही था !” के लेखक ललित निरंजन की यह पहली कहानी है। सेवानिवृत्ति के बाद आप लेखन की ओर अग्रसर हुए हैं। – गंगा एक सीधा-सादा व्यक्ति है। उसका काम जूतों की मरम्मत करना है। किसी प्रकार की सुख-सुविधाएं उसके पास नहीं हैं, फिर भी वह सुखी है। साथ ही उसके पास एक सूक्ष्म दृष्टि है। लेखक के मन-मस्तिष्क पर गंगा हमेशा छाया रहता है। सुमन सारस्वत की कहानी “छोटे लोग, बड़े लोग” भी “मां” के इर्द-गिर्द बुनी गयी है। चाहे छोटे तबके के लोग हों या फिर बहुत ही संपन्न घरानों के उनके व्यवहार में कोई फ़र्क नहीं होता। हां, इतना ज़रूर है कि “बड़े लोगों” से समाज को एक आदर्श प्रस्तुत करने की अपेक्षा अवश्य रहती है। उन पर समाज का “देय” कुछ अधिक ही होता है।

एक तिमाही में राजनीतिक पटल पर इतना कुछ घट गया होता है कि समझ में नहीं आता कहां से शुरू किया जाये। इस सारे घटनाक्रम में सरकार कहां है कुछ मालूम ही नहीं पड़ रहा है ! १६ अगस्त से शुरू अन्ना हज़ारे के अनशन के समय पहले तो अनेक शर्तें लगायी गयीं कि जंतर-मंतर या रामलीला मैदान में अनशन करने की अनुमति नहीं मिलेगी और लोगों की संख्या ५००० से अधिक नहीं होनी चाहिए, इतनी गाड़ियां होनी चाहिए आदि, आदि। प्रधानमंत्री से हस्तक्षेप करने को कहा गया तो उन्होंने कहा कि यह दिल्ली पुलिस का मामला है। जब अन्ना हज़ारे अनशन के लिए निकले तो उन्हें और उनके सहयोगियों को पकड़ कर तिहाड़ जेल में डाल दिया गया। तो अन्ना जी ने कहा कि मैं जेल में ही अनशन जारी रखूंगा। बाहर अन्ना के समर्थकों का हुजूम बढ़ता जा रहा था। विवश हो अन्ना जी को छोड़ना पड़ा, यही नहीं रातोंरात रामलीला मैदान को तैयार करके अनशन के लिए देना पड़ा। अज्ञात बीमारी का इलाज कराने सर्वेसर्वा सोनिया गांधी को उन्हीं दिनों अमरीका जाना पड़ गया, साथ में युवराज भी थे। अब बिल्ली के गले में कौन घंटी बांधे। इस बीच प्रणव दा और चिदंबरम बाबू ने

चुप्पी साध ली. कारण कि पहले ही काफी फ़जीहत हो चुकी थी. इस मर्तबे मीडिया पूरी तरह अन्ना के साथ था. चौबीसों घंटे रामलीला मैदान से लाइव कवरेज़ जारी था. हर चार-छ: घंटों में अन्ना की सेहत की जानकारी दी जाती. पूरा देश जैसे अन्नामय हो गया था. बच्चों-बूढ़ों सब के सर पर “में अन्ना हज़ारे हूँ” की टोपी और हाथ में तिरंगा झंडा, जुबान पर “भारत माता की जय.” पर अंततः मानसून सत्र ख़तम होते-होते अन्ना के अनशन को किसी तरह तुड़वाया गया. तिहाड़ से राजघाट जाने के दृश्य और अनशन समाप्ति के बाद अस्पताल जाने के दृश्य आज भी आंखों के सामने कौंध जाते हैं. इससे पूर्व २५ जून १९७५ को लोकनायक जय प्रकाश नारायण ने दिल्ली के इसी राम लीला मैदान में जनसभा को संबोधित करते हुए राजसत्ता की धज्जियां उड़ा कर रख दी थीं. परिणामस्वरूप इंदिरा गांधी को आपात्काल की घोषणा करनी पड़ी, फिर जो कुछ हुआ वह देश के इतिहास का एक बदनुमा धब्बा है.

आज भी स्थितियां सीमा से परे हो गयी हैं. जन-सामान्य के लिए जीवन-यापन दिन ब दिन मुश्किल होता जा रहा है. भ्रष्टाचार, महंगाई, कालाबाज़ारी, आतंकवाद, कश्मीर-समस्या, नक्सलवाद, रेल रोको, बंद ... उत्तर-पूर्व इंपाल में जाने कितने दिनों से ब्लॉकड चल रहा है. पेट्रोल २०० रु. लिटर, खाने-पीने की सामग्री का पूरी तरह अभाव है लेकिन दिल्ली की सरकार के कानों पर जूं नहीं रेंगती. मणीपुर में पिछले ११ सालों से इरॉन चानू शर्मिला का जेल में अनशन जारी है. उसे जेल के अस्पताल में रखा गया है वह मात्र ग्लूकोज़ पर किसी तरह ज़िंदा है. आंध्र प्रदेश में तेलंगाना राज्य की मांग के आंदोलन के कारण भी आम आदमी परेशान है. आंदोलन को भारी जनसमर्थन प्राप्त है. आंदोलन के कारण आंध्र प्रदेश से और बाढ़ के कारण उड़ीसा से देश के कई तापीय बिजली घरों में कोयले की ख़पत नहीं हो पा रही है. पूरे देश में बिजली का गहरा संकट छाया हुआ है. - हर छोटा-बड़ा निर्णय रुका हुआ है. सोनिया गांधी बीमार हैं. अमरीका जाकर उन्हें क्यों इलाज़ कराना पड़ा, उन्हें क्या बीमारी है इसकी अटकलें लगायी जा रही हैं. हां, न्यूयॉर्क के जिस अस्पताल में उनका ऑपरेशन हुआ वह कर्क रोग के इलाज़ के लिए प्रसिद्ध है. संजय दत्त की पत्नी नरगिस को भी उसी में भर्ती करना पड़ा था. कहा जाता है कि भारत एक जनतांत्रिक देश है तो सोनिया गांधी की बीमारी को क्यों छिपाया जा रहा है. माओ, फीडल केस्ट्रो या जिन्ना के स्वास्थ्य की जानकारी लोगों को न हो इसके पीछे निहित कारण थे, तो क्या यहां भी दाल में कुछ काला है ?

कुछ दिन पूर्व हैदराबाद में, वर्तमान सी ए जी (महालेखा निरीक्षक) विनोद राय ने प्रशासनिक सेवा अधिकारियों को संबोधित करते हुए कहा कि आजकल सरकार की साख “नादिर” को छू रही है. कुछ भी काम नहीं हो पा रहा है. हाल ही में भ्रष्टाचार के आरोपों के कारण कई मुख्यमंत्रियों को अपनी कुर्सी छोड़नी पड़ी, कुछ कैबिनेट मंत्री हैं जिनका नाम घोटालों में आने के कारण जेल में हैं. संसद के ऐसे कई सदस्य हैं न्यायपालिकाएं जिनकी जांच कर रही है. मुझे अहसास है कि ऐसे में आप सबके लिए काम करना कितना मुश्किल है. लेकिन हम लोग मिल कर काम करें तो स्थिति को अब भी सुधारा जा सकता है. विनोद राय का यह बयान सरकार ने नुमाइंदों को पसंद नहीं आया. बहुत संभव है उनके पीछे भी कोई जांच लगा दी जाये. अभी हाल ही में कानून मंत्री सलमान खुशीदा का बयान आया कि यदि आप बड़े-बड़े व्यावसायियों को जेल में बंद कर देंगे तो देश में विनिमय कहां से आयेगा. यानि जो पैसा लगाये उसके लिए अलग नियम होने चाहिए, उसे खुली छूट होनी चाहिए. उच्च न्यायालय ने इस बयान पर मंत्री महोदय को फटकार लगायी है.

सहज ही प्रश्न उठता है कि जन लोकपाल बिल आ जाने से या विदेशों में जमा काला धन वापस आ जाने से क्या आम जन की हालत में सुधार आ पायेगा ? देश के गोदामों में अन्न भरा है फिर भी न जाने कितने लोग भूखे सोते हैं, ऐसा क्यों ? अन्न पैदा करने वाला किसान क्यों आत्महत्या करने पर विवश हो जाता है ? यकीन मानिए जब तक इस सड़ी-गली व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन नहीं होगा सब कुछ ऐसा ही चलने वाला है. केवल केंद्र में सत्ता परिवर्तन से कुछ नहीं होने वाला. अच्छे शासन के कुछ प्रांतों के ताज़ा उदाहरण आज हमारे सामने हैं. आज अमरीका भी गुजरात की तारीफ कर रहा है. वहां बिजली का कोई संकट नहीं है. मध्य प्रदेश ने भी जनता से संबंधित सभी सेवाओं का कंप्यूटरीकरण किया है और हर कार्य की निश्चित समय सीमा निर्धारित की है. बिहार जो एक समय बीमारू प्रदेश का सरगना था आज प्रगति के पथ पर है और सु-शासन के आदर्श के रूप में उभर कर सामने आया है. यदि देखा जाये तो आज देश के वे प्रांत जहां स्पष्ट नेतृत्व है वहां की स्थितियों में सुधार हुआ है और वे ही विकास के पथ पर अग्रसर हैं.

और चलते-चलते... दिल्ली के पास नोएडा में “फॉर्मूला-वन” कार प्रतियोगिताएं शुरू होने वाली हैं. इन रेसों में उच्चकोटि का कितना पेट्रोल व्यर्थ फुंकेगा इस ओर किसी का ध्यान नहीं है. अगली बार पेट्रोल की कीमत बढ़ाने के लिए सरकार को एक और बहाना मिल जायेगा. एक-एक टिकट की कीमत हज़ारों से लेकर लाखों में है और सरकार गरीबी की रेखा तय नहीं कर पा रही है.

कथाविब / जुलाई-सितंबर २०११ / ३

अरविंद



लेटर-बॉक्स



►► 'कथाबिंब' का अप्रैल-जून २०११ अंक पाकर वर्षों से सोयी कामना जाग उठी और कागज़-कलम उठा ली। 'कथाबिंब' का वर्षों पुराना पाठक हूँ, इस पत्रिका को मैं कथाकार गोविंद मिश्र जी का उपहार मानता हूँ, जब वे इस पत्रिका के परामर्शदाता थे, तभी उन्होंने इसे पढ़ने का सुझाव दिया था, कहना पुरानी बात होगी कि 'कथाबिंब' अन्य साहित्यिक पत्रिकाओं से अलग छवि रखती है। त्रैवार्षिक सदस्यता के नवीकरण कराते हुए इसका आजीवन सदस्य बनना भी एक रोचक घटना है। घर में आये अख़बार एवं पत्रिकाओं (रद्दी और अप्रासंगिक बन चुके) को कबाड़ी के हवाले कर लगभग ढ़ाई-पौने तीन सौ रुपये हाथ लगे। उनमें अपना त्रैवार्षिक चंदा तथा कुछ जेब खर्च से कटौती की गयी। रकम मिलाकर मैंने इस बहुमूल्य पत्रिका का आजीवन सदस्य बनने का गौरव हासिल किया।

आदरणीय मालती जोशी के साक्षात्कार ने वाकई मुझे धर्मयुग, सा. हिंदुस्तान के युग का स्मरण करा डाला। 'धर्मयुग' (या सा. हिं.) में छपी उनकी कहानी 'ज्वालामुखी के गर्भ में' की कुछ पंक्तियां आज भी मैं अपने बधाई कार्डों में उद्धृत करता रहा हूँ – "पुरुष जब भीतर से टूटने लगता है, तो नारी का सहज स्नेह ही उसे संबल दे पाता है, इसी स्रोत से वह शक्ति ग्रहण करता है, नारी चाहे वह मां हो, पत्नी, हो, बहन हो, मित्र हो..." पत्रिका अभी हाथ ही लगी है। लघुकथाएं तथा गज़लों उत्कृष्ट हैं।

प्रशांत कुमार सिन्हा

सागर लहर, बंपास टाउन,

बी-देवघर-८१४११४ (झारखंड)

►► पिछले दो-अढ़ाई वर्षों से 'कथाबिंब' का मैं नियमित पाठक हूँ, यह मेरा पहला पत्र है। जनवरी-मार्च '११ के अंक में प्रकाशित लघुकथा 'दर्द का अहसास' (डॉ. वासुदेवन 'शेष') मेरे दिल को गहरे छू गयी। साधुवाद लेखक को और आपको। बाकी प्रस्तुतियां भी अपने स्तर के अनुरूप हैं। इस पत्रिका में जो मुझे सबसे अच्छी बात लगती है वो है 'लेटर बॉक्स' में छपने वाले पत्रों की संख्या। आप न केवल अधिक संख्या में पत्र शामिल करते हैं बल्कि इसमें छपनेवाला पत्र-लेखक संतुष्ट होता है कि उसकी बात लगभग पूरी की

पूरी रखी गयी, यह बड़ी बात है। रही बात इसकी अन्य सामग्रियों की, तो इसमें प्रकाशित होने वाली कहानियों, लघुकथाओं, गज़लों एवं कविताओं का स्तर काफी ऊंचा है। स्तंभों में 'आमने-सामने', 'सागर-सीपी', 'बाइस्कोप' ने अपना एक आदर्श मानदंड स्थापित किया है। एक गंभीर से गंभीर पाठक भी 'कुछ कही, कुछ अनकही' की तारीफ़ किये बिना नहीं रह सकता।

श्याम कुमार राई

कांथरा, पुरानी बस्ती,

सलुवा-७२११४५ (प. बंगाल)

►► 'कथाबिंब' ११४ अंक प्राप्त हुआ। सभी कहानियां विभिन्न विषयवस्तुओं के कारण अच्छी लगीं। 'उसका फैसला' का दर्द भिगो गया तो 'मोक्षदायिनी' प्रश्नों की शृंखला छोड़ गयी। 'वापसी' में कैद बेबसी भी मन को छूती है। 'बंद ताला' कहानी एक कटु यथार्थ का मार्मिक और तथ्य परक चित्रण है। अच्छी कहानियों का प्रस्तुतिकरण 'कथाबिंब' की विशिष्टता है। बधाई! 'बाइस्कोप' में सविता जी के साथ गोपाल शर्मा जी से मिलना अच्छा लगा। मालती जोशी जैसे उत्कृष्ट कथाकार के बारे में बहुत सी जानकारियां मिलीं। धन्यवाद। डॉ. किशोर काबरा जी का आत्मकथ्य भी अच्छा लगा, प्रेरणास्पद। वस्तुतः संघर्षों में मुस्कुराना ही तो जीवन की कला है। 'कथाबिंब' पाठकों को आत्मसंतुष्टि प्रदान करती है।

— डॉ. निरुपमा राय

उर्सलाइन कॉन्वेंट रोड,

रंगभूमि हाता, पूर्णिया-८५४३०१ (बिहार.)

►► 'कथाबिंब' अंक ११४ मिला। डॉ. मीनाक्षी स्वामी की कहानी 'बंद ताला' पढ़कर कलेजा मुट्ठी में आ गया। कहानी भीतर तक मन को हिला गयी और सिखा भी गयी। बच्चों को लेकर चौकन्ना रहने का सबक।

इसी अंक में श्रीमती मंगला रामचंद्रन का लिया मालती जी यानि माई साहेब का साक्षात्कार सचमुच सागर-सीपी ही प्रतीत हुआ। उनसे बात करने जैसा आभास हो रहा था।

श्रीमती ज्योति जैन

१४३२/२४, नंदानगर, इंदौर-४५२०११

► अंक ११४ की सर्वश्रेष्ठ रचना है – सविता बजाज का पत्र. गरिष्ठ रचनाएं वरिष्ठ साहित्यकार सृजन करते हैं. परंतु एक पत्र भी कमी इतना सार्थक संदेश दे जाता है जो पुरस्कृत कहानियां व सम्मानित पुस्तकें भी नहीं दे पातीं. पुरुष प्रधान समाज में भी पुरुष कटघरे में खड़ा रहता है. सविता दीदी ने पुरुषों का महत्त्व समझा है. स्पष्ट दो टूक कहकर. साधुवाद. मालती जोशी दीदी को ४० वर्षों से पढ़ रहा हूं. पत्र व्यवहार भी होता रहा है. 'सागर-सीपी' में उन्हें सुनकर सुखद अनुभूति हुई. सभी रचनाएं उत्कृष्ट हैं ही, हमेशा की तरह. काबरा जी का आत्मकथ्य बहुत सारी शिक्षाएं देता है.

दिलीप भाटिया

न्यू मार्केट, रावतभाटा, कोटा (राजस्थान)

► 'कथाबिंब' का अप्रैल-जून '११ अंक. संपादकीय में सामयिक चिंतन है. सरकारी लोकपाल बिल आ गया है. अन्ना हजारे का अपेक्षित बिल नहीं आया है. सरकार व अन्ना में रस्साकस्सी जारी है.

पुष्पा सक्सेना की कहानी 'उसका फैसला' दुःखांत होते हुए भी संघर्षधर्मा है. संघर्ष हमेशा सकारात्मक होता है. अतः त्रासद कथा होते हुए भी मनुष्य को कमजोर करने की कहानी नहीं है यह. 'मोक्षदायिनी' शीर्षक ही से कहानी गंगा केंद्रित प्रतीत होती है. रमादेवी गंगा के कारण बीमार हुई और मरी. मोक्षदायिनी गंगा मृत्युदायिनी हो गयी. इस कहानी की कमजोरी यह है कि इसके केंद्र में गंगा है, न कि मनुष्य, रुढ़िवाद पर व्यंग्य है. परंपरा के मृत मूल्यों पर व्यंग्य है. पर इसमें मनुष्य गौण हो गया है और गंगा प्रमुख. 'वापसी' कहानी में (उषा भटनागर) गजब का बंधाव है, कुतुहल है, उत्सुकता है. परंतु इसकी भी वही कमजोरी है जो मोक्षदायिनी में है. 'मोक्षदायिनी' के केंद्र में गंगा है, 'वापसी' के केंद्र में बम की आशंका. दो पात्र हैं. एक इतना भला मनुष्य है कि दूसरे का कीमती बोझ बिना कीमत का अहसास किये उठाये फिर रहा है. दूसरा इतना स्वार्थी है कि अपनी चीज के लिए मरा जा रहा है. दूसरे की चीज को देखकर भी अनदेखा कर रहा है. और लोग, लोगों में तो इंसानियत ही नहीं है. उसको अपना बैग मिलता भी है तो लुटा पिटा. यह कहानी संदेश क्या देती है? बम के प्लॉट ने कथा की ऐसी तैसी कर दी है. मनुष्यता का मूल्य गड्डमड्ड हो गया है. गोविंद उपाध्याय

की टुटपुंजिया आंचलिकता और राजनीतिक विषय की होने से नीरस हो गयी है. डॉ. मीनाक्षी स्वामी की 'बंद ताला' का 'ताला' बलात्कार है जो बच्चों के लिए बंद है. सरला जो मात्र ग्यारह वर्षीया बालिका है के साथ बलात्कार हुआ, उसकी हत्या हो गयी. उसको बचाने के प्रयास में काका पहले घायल और फिर मर जाते हैं. एक के बाद एक त्रासदी. लेकिन डॉ. मीनाक्षी स्वामी इन त्रासदियों से चिंतित नहीं हैं. उन्हें तो बाल जिज्ञासाओं के शमन की चिंता है. डॉ. किशोर काबरा की आत्मरचना ने प्रभावित किया. किशोर काबरा मालती जोशी के साक्षात्कार पर भारी पड़ते हैं. मैंने 'मधुमती' में कभी किशोर सतसर्ह की समीक्षा की थी. उनका प्रशंसात्मक पत्र भी आया था.

हितेश व्यास

१- मारुति कॉलोनी, पंकज होटल के पीछे,
नयापुरा, कोटा (राज.)-३२४००१

► 'कथाबिंब' के अप्रैल-जून २०११ अंक में 'आमने-सामने' स्तंभ के अंतर्गत आपने मेरी आत्मरचना 'एक अविराम यात्रा : मुक्तक से महाकाव्य' को जिस गरिमा, स्तरीयता एवं सुरुचि संपन्नता के साथ प्रकाशित किया, वह आपकी संपादनदक्षता, गुण ग्राहकता और लोकाभिमुखता को प्रतिबिंबित करती है. मेरे आत्मावलोकन को एक भी शब्द कम किये बिना, एक भी शब्द बदले बिना जस-का-तस प्रकाशित किया और साथ में गीत, गजलों एवं सारस्वत उपलब्धियों का एकत्र परिचय भी दिया. यह आपके मुझ पर विशेष अनुराग को निदर्शित करता है.

मालवा मेरी जन्मभूमि है और गुजरात कर्मभूमि है- इस बात को प्रदर्शित करने के लिए मैंने गुजराती के प्रसिद्ध लोकगीत 'मेहंदी ते वावी मालवे, एनो रंग गयो गुजरात रे!' को याद किया था. पत्रिका में 'वावी' शब्द नहीं छपा है. संभवतः उसका अर्थ समझ में नहीं आया हो. भाव यह है कि मेहंदी बोयी तो गयी मालवा में, पर इसका रंग गुजरात पहुंच गया. सुखरू होता है इसा ठोकरें खाने के बाद, रंग लाती है हिना पत्थर पे पिस जाने के बाद वाली व्यंजना, भी इसमें छिपी हुई है. उपलब्धियों की तरुण कथा के पीछे आंसुओं की करुण व्यथा भी इसमें छिपी हुई है. ये दोनों छोर प्रदेशों के ही नहीं जीवन के भी है.

डॉ. किशोर काबरा

५६२, जनता नगर, चांदखेड़ा,
अहमदाबाद-३८२४२४(गुजरात)

अन्ना हजारे

कभी कभी कुछ बातें
सुकून पहुंचाती हैं अनायास ही
जुड़ा होता है उनसे
वह बीत गया कल,
जहां कुछ तो ऐसा था
जिसे रखना था हमें
संजोकर अपने वजूद की
अंतिम गहराइयों में,
कुछ वैसे ही,
कि जैसे रखते हैं हम
संभाल कर
अपने पूर्वजों की धरोहर.
आज के अखबार में छपी है
अन्ना की एक तस्वीर,
लंबी नाक और
उठती टुड्डी के बीच
बनता हुआ
'क्यूट' सा कोण,
चेहरे की सरलता,
भाव की तरलता,
आंखों में व्यथा
और होठों पर मौन
सर पर तिरछी गांधी टोपी
सफ़ेद कुर्ता, सफ़ेद धोती
जैसे किसी बीते युग का अवतार.
टी. वी. पर भी आ रहा था
अन्ना के अनशन का समाचार,
प्रपटाचार के विरोध में
शहरों की सड़कों पर
जुलूस निकाले जा रहे थे
मुंबई की लोकल ट्रेनों में
'हेली पैसेंजर'
तिरंगे झंडे लहरा रहे थे
और स्कूलों में बच्चे

हुमायूं जमील
आंदोलन की सफलता के लिए
देश भक्ति के गीत गा रहे थे,
इन तस्वीरों ने खोल दिये थे
उस बीत गये कल के
सारे दरीचे और दर.
आंखों के सामने थे
स्वतंत्रता संग्राम के, चमकते हुए मंज़र
तिरंगे के साये तले, आज़ादी की बातें
जोशी-गज़ब के दिन, जागी हुई रातें
वे क़द्दावर नेता, वे सूफ़ी, वे संत
जिनके रौशन किरदार से हुआ था
अन्याय और अंधकार का अंत
टी. वी. और अखबारों में
समाचार तो और भी आये थे
लोकपाल बिल की ख़ातिर....
एक महिला ने आत्म-दाह कर
अपने प्राण गंवाये थे
एक युवक ने लोकसभा में घुसकर
भारत माता की जय के
नारे भी लगाये थे,
इन बिंबों और प्रतिबिंबों के बीच
महसूस तो यह होता था
कि किसी ने खोल दिये हों
सैकड़ों मुहाने उस नदी के
जो बनी थी कल की यादों से,
वह बीत गया कल
जहां कुछ तो ऐसा था
जिसे रखना था हमें
संजोकर अपने वजूद की
अंतिम गहराइयों में
कुछ वैसे ही,
कि जैसे रखते हैं हम
संभाल कर
अपने पूर्वजों की धरोहर.

✉ ६३/८, जी. आई. सी. ऑफिसर्स क्वार्टर्स, बांद्रा रिक्लेमेशन, बांद्रा (प.), मुंबई-४०००५०

बाबू

राजेंद्र वर्मा

बाबू ओंकारनाथ श्रीवास्तव 'अंचल' कल ही बैंक-सेवा से रिटायर हुए थे। आज उनके नये जीवन का पहला दिन था, पर अन्य दिनों की भांति वे सबेरे ही तैयार होकर बैंक चले गये थे। वहां अभी उन्हें कई मामले निपटाने थे। ग्रेच्युटी तथा अवकाश-नकदीकरण की चेकें बचत खाते में जमा करनी थीं, पी. एफ. के पैसों की एफ. डी. करनी थी और इन सब कार्यों से निबटने के बाद बैंक ही के पास एक वृद्धाश्रम जाकर थोड़ी आर्थिक सहायता भी करना थी। वृद्धाश्रम से उन्हें विशेष लगाव था, क्योंकि वहां उनके मित्रवत् काव्यगुरु 'सनेही' जी पिछले एक वर्ष से रह रहे थे।

नौकरी के साथ-साथ ओंकारनाथ कविताएं लिखना करते थे। पहले वे मुक्त छंद में, अथवा कहिए - गद्य कविताएं लिखते थे, पर जब से उन्हें सनेही जी का सान्निध्य मिला था, वे छंदोबद्ध कविताएं लिखने लगे थे - गीत, गज़ल, दोहे, सवैया, घनाक्षरी आदि। कुछ कविताएं लघु पत्रिकाओं में छपी भी थीं। इससे उनका उत्साहवर्धन हुआ था और साथ ही अन्य रचनाकारों की रचनाओं की अपेक्षा स्वयं की रचनाओं के आकलन की समझ भी विकसित हुई थी। पहले वे शौकिया लिखते थे, पर अब लेखन जैसे उनका सामाजिक दायित्व हो। पिछले वर्ष उन्होंने अपने काव्य-संग्रह की पांडुलिपि भी तैयार कर ली थी, लेकिन किसी प्रकाशक के अभाव में वे अभी साहित्यिक संसार में अपनी आभा बिखरने से वंचित थे।

सनेही जी को वे पहले अपने ही घर में रखना चाहते थे, पर पत्नी और बेटों की असहमति के चलते वे इस विचार को मूर्त रूप न दे सके। हालांकि घर उनका था - बैंक से लोन लेकर बनवाया था, फिर भी बच्चों की इच्छाओं के आगे वे विवश हो गये थे। जवान बेटों के बीच में बाप का क्रद कैसे बौना हो जाता है — इसका अनुभव उन्होंने पहली बार किया। सनेही जी आजीवन साहित्य-सेवा करते रहे। फलस्वरूप, वे न धन जोड़ पाये और न ही घर बनवा सके। धनाभाव तो था ही, लगभग

दो वर्षों से वे विधुर भी थे। शासकीय सहायता अवश्य मिली थी, पर वह एक-दो साल ही चल पायी। अब उन्हें ओंकार जैसे दो चार मित्रों तथा शुभचिंतकों का ही अवलंब था। कोई नज़दीकी रिश्तेदार नगर में था नहीं, एकाध दूर-दराज के ज़रूर थे, पर उनकी निर्धनता रिश्तों के पौधों में सूखे का कार्य कर रही थी।

ओंकार बाबू ने प्रमोशन नहीं लिया था। बाबू भरती हुए और बाबू ही रिटायर हुए। बैंक में कर्मचारीगण भी उन्हें बड़े बाबू ही कहकर संबोधित किया करते। उन्होंने सर संबोधन सुनने का सपना ही नहीं देखा। इसीलिए, शायद जब भी प्रमोशन की परीक्षा में बैठना पड़ता, वे या तो मेडिकल लगा देते या फिर परीक्षा में फेल होने के लिए बैठ जाते और बाकायदा फ़ेल होकर जश्न मनाते। इसके बावजूद वे बाबू बने रहने से उपजने वाली हीन-भावना से कभी नहीं दबे, जबकि उनके साथ के लोग आज चीफ़ मैनेजर या रीजनल मैनेजर तक पहुंच चुके थे, अथवा इन पदों से रिटायर हुए थे।

नौकरी में प्रमोशन न लेने के पीछे एक मात्र कारण था - होम सिकनेस; पर ओंकार बाबू, उसे अपने सिद्धांत से ढंकते थे - 'प्रमोशन लिया नहीं कि गृहस्थी चौपट!' इस सिद्धांत की पुष्टि वे अपनी पत्नी तथा बैंक के उन बाबुओं से करवाते थे जो प्रमोशन से या तो दूर भागते थे; या फिर वे उसके अधिकारी ही न थे। इसी सिद्धांत की शक्ति से उन्होंने गृहस्थी बचा लेने की तथाकथित जंग ही न जीती थी, बल्कि दोनों बेटों को अच्छी परवरिश भी दी थी। अंग्रेज़ी मीडियम से उनकी पढ़ाई की व्यवस्था की और उन पर निरंतर अनुशासित दृष्टि रखी - तभी तो, एक सरकारी डॉक्टर है और दूसरा पी.सी.एस. अधिकारी। बेटी का विवाह भी धूम-धाम से किया। दान-दहेज में कोई कसर न रखी, दामाद भी भारत सरकार में अधिकारी है।

कुल मिलाकर सब ठीक-ठाक ही चल रहा था कि उनकी पत्नी अचानक बीमार पड़ीं। जांच-पड़ताल के बाद पता चला कि उनकी दोनों किडनियां बेकार हो गयी हैं।

मार्च १९५५

शिक्षा : विधि स्नातक.
प्रकाशन : विभिन्न विद्याओं में आठ पुस्तकें प्रकाशित.
सम्मान/ पुरस्कार : उ. प्र. हिंदी संस्थान के व्यंग्य नामित पुरस्कार सहित देश की विभिन्न संस्थाओं द्वारा सम्मानित.
मूल्यांकन : लखनऊ विश्वविद्यालय द्वारा 'राजेंद्र वर्मा की साहित्य साधना' विषयक लघुशोध.
संप्रति : भारतीय स्टेट बैंक में प्रबंधक.



राजेंद्र

किडनी ट्रान्सप्लांट होने का जुगाड़ हो ही रहा था कि उन्हें दिल का जानलेवा दौरा पड़ा. यह दौरा शायद उन्हें नहीं पड़ता यदि उन्हें यह न पता चलता कि घर में कोई भी उन्हें किडनी देना नहीं चाहता, जबकि उनका तथा उनके बेटे और उनकी बहिन का ब्लड ग्रुप एक ही था. ओंकारनाथ अकेले रह गये.

बेटों के विवाह के रिश्ते आ रहे थे, पर बड़े वाले ने विवाह करने से मना कर दिया. थोड़ी झक-झक के बाद यह तय हुआ कि छोटे वाले का विवाह पहले कर दिया जाये पर जो भी रिश्ते आ रहे थे वे अपेक्षाकृत निम्न मध्यम परिवार के लोग थे और अधिकांश क्लर्क या सेक्शन ऑफिसर जैसे लोग थे जो अपनी पुत्री का रिश्ता प्रचलित दान-दहेज के अनुसार करना चाहते थे. कोई भी उच्चवर्गीय घर से रिश्ता न आया था. ओंकार बाबू को अब अहसास हुआ, बल्कि बेटों ने भी कराया कि प्रमोशन न लेकर उन्होंने कितनी बड़ी गलती की है. जिस सिद्धांत के कारण उन्होंने प्रमोशन नहीं लिया, अब वही उन्हें कटघरे में खड़ा करता था. किसी तरह छोटे वाले बेटे का विवाह एक बिजनेसमैन की बिटिया से हुआ जो ज़्यादा पढ़ी-लिखी ही नहीं थी, पर अपने साथ अच्छा-खासा दान-दहेज लायी थी, जिससे छोटे बेटे को पूर्ण संतोष था. चूंकि उसकी नौकरी दिल्ली सरकार की थी, इसलिए वह बहू को लेकर दिल्ली चला गया.

बड़े बेटे ने प्रेम विवाह किया - एक डॉक्टरनी से, जो साथ में पढ़ती थी. गड़बड़ यह थी कि वह ब्राह्मणपुत्री थी; अपने मां-बाप की इकलौती संतान थी और उसके पिता ससुरजी के बैंक ही में उच्चाधिकारी थे. बहू के आने से बेटे के व्यवहार में परिवर्तन दिखायी देने लगा. बहू की दृष्टि में ससुरजी सम्मान पाने के अधिकारी न थे, क्योंकि वह

अफसर की बेटा थी और किसी बाबू का सम्मान करना उसे सिखाया न गया था. ओंकार ने दबी जुबान से इसकी शिकायत भी बेटे से की, पर बेटा 'हां-हूँ' कहकर चुप हो गया. वह 'श्रवणकुमार' तो पहले भी न था और उसकी आशा भी ओंकार ने न की थी, पर उन्हें अपना अपमान असह्य था. कवि हृदय होने के कारण वे अतिरिक्त संवेदनशील थे, बल्कि कहना चाहिए कि वे भावुकता की सीमा तक संवेदनशील थे; फिर भी वे दुनियादारी निभाना जानते थे. आज घर में भी दुनियादारी निभाने का समय आ गया है यह उनकी समझ में बखूबी आने लगा था.

विधुर ओंकारनाथ जब तक नौकरी में थे, उन्हें कभी अकेलापन नहीं खला. नौकरी भी पत्नी की भांति होती है — वह लुभाती भी है और थकाती भी है. रिटायरमेंट के बाद आज पहली ही शाम थी, किंतु ओंकार को लगा कि उनका जीवन निरर्थक हो गया है. बहू-बेटे हैं, समधी-समधिन हैं, पर सब के सब जैसे किसी और दुनिया के हों. अपनी असहायता को वे किसी से कह पाने की हिम्मत भी न जुटा पाये. अगले दिन वे वृद्धाश्रम चले गये और सनेही जी से साहित्यिक चर्चा में संलग्न हो गये. उन्हें जैसे संबल मिल गया और दिशा भी — वे प्रेमचंद साहित्य खरीद लाये और उसे पढ़ना शुरू कर दिया. जीवन की पहेलियां जैसे सुलझने लगी थीं.

बड़े बेटे के ससुर हालांकि दूर से ही रिश्ता निभाते रहे थे - केवल सुख-दुख में सम्मिलित होते रहे, ओंकार के गले कभी नहीं लगे. फिर भी एक नाता तो था ही जो अब दोनों के रिटायरमेंट के बाद एक नया रूप ले रहा था... दोनों समधी अब एक समान हो गये थे. जातीय भावना को छोड़ दें, तो पंडित जी का अफसर शांत हो

चुका था और उसमें एक बाबू से नाता जोड़ने की हिचक भी समाप्त हो चुकी थी. पद, प्रतिष्ठा और पैसा एक सीमा तक ही आदमी को गुलाम बनाये रख सकते हैं. रिटायरमेंट के बाद जीवन में मनुष्यता की परीक्षा होती है. इस परीक्षा में जो पास होता है, वही समाज में प्रतिष्ठा पाता है. पैसे की धौंस प्रतिष्ठा नहीं दिला सकती; सम्मान नहीं दिला सकती. पंडितजी ने ओंकार के घर आना शुरू कर दिया था.

रिटायर्ड आदमी के पास समय की कमी नहीं रहती— चाहे जितना अखबार पढ़िए, चाहे जितनी पुस्तकें पढ़िए, चाहे जितनी देर फ़ोन पर बातें कीजिए या फिर घूमिए-फिरिए. कुछ भी कर लीजिए, फिर भी समय बचा ही रहेगा. जब तक आप इसे किसी रचनात्मक कार्य में न लगायें. ओंकार बाबू इस मामले में सजग थे. उन्होंने अपनी साहित्यिक गतिविधियां तेज़ कर दीं. उनके काव्य-संग्रह की पांडुलिपि तो पहले ही तैयार थी, वे उसके प्रकाशन में जुट गये. दिल्ली के एक प्रकाशक से बात हुई— सौ पृष्ठों की पुस्तक, हार्ड बाउंड पांच सौ प्रतियों के बीस हजार रुपये मांग रहा था. ओंकार दस हजार रुपये के बदले सौ प्रतियां चाह रहे थे, पर मामला नहीं पटा. अंततः उन्होंने अपनी पत्नी के नाम का प्रकाशन खोल डाला और अपनी तथा अपने गुरुवर सनेही जी की एक पुस्तक छाप डाली. दोनों पुस्तकों में करीब तीस हजार रुपयों का खर्च आया. फिर इनके लोकार्पण समारोह पर करीब पांच हजार का खर्च आया. देशभर में कवियों-आलोचकों-संपादकों आदि को पुस्तकें भेजने में भी लगभग दो-ढाई हजार खर्च हो गये— इसके बावजूद उन्हें तसल्ली थी कि वर्षों की साध जो मन में थी, वह पूरी हुई.

इन सब व्यस्तताओं में चार-पांच महीने ऐसे बीत गये जैसे दस-पंद्रह दिन ही बीते हों.

डॉक्टर बेटे और बहू ने सोचा था कि — पापा जब रिटायर होंगे, तो उनसे पंद्रह-बीस लाख रुपये लेकर किसी एपार्टमेंट या शॉपिंग कॉम्प्लेक्स में कोई दुकान खरीद लेंगे और उसमें प्राइवेट प्रैक्टिस करेंगे. जो भी दुकान मिल रही थी, वह पच्चीस-तीस लाख से कम की न थी. उनके पास केवल दस लाख तक की ही व्यवस्था थी - वह भी जेवर आदि बेचने या गिरवी रखने के बाद! पापा से मांगने पर भी दस लाख और— मतलब, कुल

बीस लाख! फ़र्नीचर वगैरह के लिए दो-ढाई लाख अलग से चाहिए. मामला बन नहीं रहा था... बेटे को दस लाख देने के बाद ओंकारनाथ के पास केवल दो ही लाख बच रहे थे. अभी ज़िंदगी आगे क्या रंग दिखाये? वह सोच के परेशान हो जाते. उधर बेटा और बहू अपने दोस्तों और रिश्तेदारों से यही कहते कि पापा दस लाख से ज़्यादा देना नहीं चाहते, जबकि उनके पास कम-से-कम पंद्रह लाख तो होंगे ही. पुस्तकों के प्रकाशन आदि पर बमुश्किल चालीस हजार रुपये खर्च हुए होंगे, लेकिन वे लोग कहते— “लाखों रुपये क़िताबों पर उड़ाने के लिए हैं, पर हमें देने के लिए नहीं हैं!”

ओंकार बाबू ने हार कर अपनी सारी पूंजी बेटे के हवाले कर दी. बेटे ने भले ही उधार कह कर पैसे लिये थे, पर यह तो तय था कि पैसे वापस नहीं मिलने वाले. बाप की भविष्य निधि बेटे की वर्तमान निधि बन गयी.

बेटे ने दुकान खरीदी. क्लीनिक खुला और धीरे-धीरे चलने भी लगा. बेटा जनरल फ़िजीशियन था, बहू गायक्रोलॉजिस्ट! दोनों ही सुबह-शाम क्लीनिक में बैठने लगे, हालांकि बेटा सरकारी अस्पताल में था, पर वह प्राइवेट प्रैक्टिस ही कर रहा था. कहता था कि जब तक नौकरी चलती रहेगी, वह यहीं से करेगा, पी.एच.सी. में जाकर नौकरी की, तो क्या की? नगर के डॉक्टर गांव में जाकर नौकरी करना अपनी बेइज़्जती समझते हैं. भले ही उन्हें अपनी आधी सैलरी भ्रष्टाचार देवता को चढ़ानी पड़े. ओंकार का बेटा भी अपवाद न था. इसका उन्हें दुख अवश्य था, पर उनके वश में कुछ न था. और तो और, वे बेटे से यह भी नहीं कह सकते थे कि वह ठीक नहीं कर रहा, देश के साथ घात कर रहा है.

क्लीनिक खोलने के लिए कुछ पैसे श्वसुर जी ने अपने दामाद को दिये थे जिसे शीघ्र ही चुकाया जाने लगा. यद्यपि श्वसुर जी पैसा वापस लेने से बराबर इन्कार करते रहे, तथापि उनका सारा पैसा करीब दो सालों में चुका दिया गया.

ओंकारनाथ ने कुछ पैसा पेंशन प्लान में लगा रखा था, क्योंकि बैंक में पेंशन नहीं थी. तीन हजार प्रतिमाह पेंशन के रूप में उनके बचत खाते में आ जाते थे. अब यही उनकी मासिक आय थी. इसी में से वे कभी-कभी घर के लिए फल-सब्जी खरीद लेते थे. उम्मीद थी कि महीने में जब वे चार-छः बार फल-सब्जी ले जायेंगे, तो बेटा हजार-दो हजार

एक मुश्त दे देगा. फिर महीने के खर्च में आसानी रहेगी; लेकिन कल्पना तो कल्पना होती है, उसे यथार्थ में ढलने के लिए कार्यशाली पूंजी की आवश्यकता होती है. वह पूंजी कभी न जुट सकी.

पहले, जब क्लीनिक नहीं खुला था, तो ओंकारनाथ कवि-मित्रों को घर पर ही बुला लेते और घंटों कविताओं या साहित्यिक चर्चा का आनंद उठाते. बीच-बीच में चाय-पानी की व्यवस्था घरेलू नौकर या महरी से पूरी हो जाती.... लेकिन, अब स्थिति बदल चुकी थी. नौकर उनकी सुनता न था और महरी बहुरानी के घर में रहते ही आती थी. ज़ाहिर है, अब चाय-पानी की व्यवस्था ओंकार बाबू को स्वयं करनी पड़ती. कभी वे स्वयं ही किचन में चाय बना लेते, तो कभी चाय बाज़ार से थर्मस में भरकर आ जाती. जूठे कप महरी धोती थी और जब कभी वह छुट्टी मार देती, तो बहुरानी धोती.... यह व्यवस्था भी अधिक दिन चल न सकी. एक दिन जब वे थर्मस लेने किचन गये, तो देखा कि वहां ताला पड़ा हुआ है.

रात का खाना मिलने में भी आये दिन मुश्किल होने लगी. कभी बहू-बेटे, दोनों होटल से खा कर आ गये, कभी किसी पार्टी में चले गये. ऐसी अवस्था में ओंकार बाबू स्वयं ही खिचड़ी-दलिया आदि बनाते और अकेले ही खाते...

पिता का कोमल हृदय कठोर हो रहा था. रिशतों की पौध को स्नेह-आत्मीयता का खाद-पानी नहीं मिल रहा था. जिस फ़सल को लहलहाना था, वह सूखती जा रही थी. बाज़ारवाद और अवसरवाद ने परिवार को किसी निरीह संस्था में बदल दिया था.

आख़िरकार ओंकार ने एक दिन जी कड़ा करके बेटे से पैसों का तक्रादा कर ही दिया, पर जैसा कि आशंका थी - न पैसे मिले और न ही उनके मिलने का आश्वासन. हां, इतना अवश्य हुआ कि बेटे ने चार-पांच हजार रुपये उनके हाथ पर इस ताक़ीद के साथ रख दिये कि भविष्य में वह पैसों की बात न करें. बस अपनी ज़रूरतें बतायें. अगर वे पूरी होने वाली होंगी, तो ज़रूर पूरी की जायेंगी.

बेटे का यह व्यवहार देख ओंकार का जी धक-से रह गया. आंखों में आंसू आये भी और सूखे भी. बिना खाये-पिये वे रात-भर करवटें बदलते रहे. एकाध बार ज़रा-सी झपकी आयी. आज उन्हें पत्नी, सबसे अधिक याद आयी. बहुत सोच-विचार कर उन्होंने मन-ही-मन एक फ़ैसला कर

लिया.

अगले दिन वे बैंक पहुंचे. उन्होंने लोन लेकर जो मकान बनवाया था, उसके कागज़ अभी भी बैंक में बंधक पड़े थे. उन्हीं दिनों बैंकों में एक योजना आयी थी- 'रिवर्स मार्गेज.' इसके अंतर्गत वे मकान मालिक जिनकी अवस्था साठ साल या उस से अधिक थी, मकान के कागज़ बंधक रखकर ऋण ले सकते थे, जिसकी अदायगी न होने पर बैंक को अधिकार था कि ऋणी की मृत्यु के पश्चात मकान की नीलामी कर अपना ऋण ब्याज समेत वसूल ले. ऋण चुकाने का उत्तरदायित्व ऋणी पर नहीं था.

ओंकारनाथ ने उक्त योजना के अंतर्गत पांच लाख का ऋण ले लिया और मासिक किश्तों में उसके संवितरण का विकल्प चुना. धन से मिलने वाली सुरक्षा के साथ-साथ उन्हें अब मासिक खर्च की भी चिंता न थी.

लगभग एक माह तक वे घर में रहे, फिर वृद्धाश्रम में रहने लगे. वहां उनके काव्यगुरु तो थे ही, दो-चार संगी-साथी और मिल गये. साहित्य के पठन-पाठन तथा सृजन का अच्छा अवसर मिला. प्रकाशन तो उन्होंने पहले ही खोल लिया था - बस, उसका पता बदल कर वृद्धाश्रम-वाला रख लिया. सहयोगी आधार पर एक काव्य संकलन भी छपा जिसका खूब स्वागत हुआ. सौ पृष्ठीय पेपरबैक पुस्तक का मूल्य था— केवल तीस रुपये. दो सौ से अधिक प्रतियां बिक गयीं. केवल पांच हजार का घाटा हुआ, जबकि उससे अधिक मूल्य की प्रतियां अभी रखी हुई थीं.

पुस्तकों के प्रकाशन के बाद एक त्रैमासिक पत्रिका निकालने की योजना बनी, जिसमें दो खंड रखे जाने थे— 'विरासत' और 'समकालीन सृजन'. 'विरासत' में उन साहित्यकारों की रचनाएं छापने का निश्चय किया गया जिनके दिवंगत हुए साठ साल हो चुके थे, ताकि कॉपी राइट का झंझट न रहे. समकालीन सृजन के लिए स्थानीय तथा अन्य प्रांतों से रचनाएं मंगायी गयीं. आर. एन. आई. रजिस्ट्रेशन भी आवेदित किया गया. कई शीर्षक भेजे गये थे जिनमें से 'नवारंभ' स्वीकृत होकर आ गया. स्वामी-प्रकाशन-संपादक सभी कुछ ओंकारनाथ ही थे. मुद्रण-व्यवस्था स्थानीय स्तर पर ही होनी थी. मुद्रक का नाम भी तय हो गया. पत्रिका का पता वृद्धाश्रम का होने के कारण पाठकों तथा अन्य लोगों की सहज संवेदना उनके साथ

थी.

दैनिक समाचार-पत्रों के हॉकरों की सहायता से पत्रिका अधिकांश घरों में पहुंचने लगी. पहले निःशुल्क ही वितरित की गयी, हालांकि उसका मूल्य दस रुपये रखा गया था. जिन घरों में पत्रिका का प्रवेशांक भेजा गया, उनके मालिकों ने पहले तो आपत्ति की कि उन्हें पत्रिका की आवश्यकता नहीं है, पर बाद में उनका विचार बदला, क्योंकि पत्रिका का उद्देश्य व्यावसायिक नहीं था. लोगों की रुचियों में परिष्कार हो; टी. वी. की वल्वरिटी का प्रभुत्व कम हो; बाजारवाद के विरुद्ध एक मानस तैयार हो; देश की राजनैतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक दशा व दिशा में जन सामान्य की सक्रिय भूमिका हो, आदि बिंदुओं पर पत्रिका में विचारोत्तेजक लेख, कहानियां, कविताएं आदि होती थीं.

पत्रिका का स्वरूप धीरे-धीरे राष्ट्रीय स्तर का होने लगा. पाठकीय प्रतिक्रियाएं प्रेरणास्पद एवं दिग्दर्शिका बनीं. सुदूर प्रांत से प्रतिष्ठित लेखकों की रचनाएं भी आने लगी थीं. अनेक पत्र-पत्रिकाओं में 'नवारंभ' की समीक्षाएं-चर्चाएं छपीं. पहले उसकी पांच सौ प्रतियां छपती थीं, अब एक हजार भी कम पड़ने लगीं.

ओंकारनाथ ने जो पौधा रोपा था, वह अब फलदार वृक्ष बन चुका था. उनकी प्रसिद्धि भी देश के विभिन्न भागों में पहुंच चुकी थी, पर उनमें लेशमात्र भी अभिमान न था. वे अति विनम्रता से अपना कार्य संपादित कर रहे थे. धनादि की व्यवस्था कुछ बिक्री तथा कुछ विज्ञापनों से हो जाती थी. कभी-कभी थोड़ा घाटा होता, लेकिन वह यह सोचकर सह लिया जाता कि देश के निर्माण में घाटा, मुनाफ़ा नहीं देखना चाहिए. साहित्यिक पत्रकारिता तो वह यज्ञ है जिसमें श्रम-परिश्रम-रचनाधर्मिता तथा धनादि की आहुतियां निरंतर देनी पड़ती हैं. पाठकों की मांग थी कि पत्रिका मासिक हो, पर इसके लिए अतिरिक्त संसाधनों की आवश्यकता थी जो ओंकारबाबू या उनके सहयोगियों की सामर्थ्य से बाहर थीं. पत्रिका त्रैमासिक ही बनी रही...

ओंकारबाबू, सनेही जी तथा वृद्धाश्रम के उनके संगी-साथी—सभी यथा सामर्थ्य 'नवारंभ' की सेवा में संलग्न हैं. उन्हें अब न घर की याद सताती है और न ही रिटायरमेंट के बाद के जीवन की चिंता है. एक अंक डिस्पैच होते ही दूसरे की तैयारी में लग जाते हैं. उन्हें

लघुकथा

नन्हीं चिड़िया

✍ मीना गुप्ता

तिनका-तिनका जोड़कर वह अपना घोसला बना रही थी. बाग में पौधे की टहनियों के बीच. मैं रोज़ उस चिड़िया को देखती जो आंगन में बड़े विश्वास और प्रेम के साथ चुन-चुन कर तिनकों को ला रही थी और अपने घोसले का निर्माण कर रही थी. धीरे-धीरे उसकी मेहनत रंग लायी. एक-एक तिनका जोड़कर उसने अपने घोसले का निर्माण पूरा कर लिया.

कुछ समय बाद उस नन्हीं चिड़िया के घोसले में तीन चितकबरे अंडे थे जिनमें तीन नन्हीं (चिड़ियां) बंद थीं. मैंने देखा कुछ दिनों के बाद चूं-चूं चीं-चीं करते तीन लघु जीवों को.

अब चिड़िया उनके लिये खाने की व्यवस्था में लग गयी. दाने चुनकर उनको खिलाने लगी और फिर एक दिन वह चिड़िया अपने बच्चों को लेकर उड़ गयी तब मेरा मन उदास हो गया.

मैं चाहती हूँ चिड़ियां मेरे आंगन में सदा आती रहें और मेरे आंगन को चूं-चूं चीं-चीं से गुंजायमान करती रहें. मैं उनकी वंशबेल को बढ़ता देखती रहूँ.

✍ निराला साहित्य परिषद,
कटरा बाजार, महमूदाबाद,
सीतापुर (उ. प्र.)-२६१२०३

जीवन का उद्देश्य जो मिल गया है जिसे वे नये ढंग से पूरा कर रहे हैं. नवारंभ उनके जीवन का भी तो 'नवारंभ' है.

बड़ा बेटा और बहू वृद्धाश्रम से उन्हें घर ले जाने की कोशिश में हैं. उन्हें शायद यह पता चल गया है कि जिस घर में वे रहते हैं, वह बैंक में बंधक पड़ा है.

आज वे लोग फिर आये हैं - ओंकारनाथ को घर वापस ले जाने के लिए. उनके आग्रह पर वे बस, मुस्कुराते हैं और अपने काम में व्यस्त हो जाते हैं.

✍ ३/२९, विकास नगर;
लखनऊ-२२६०२२
मो. ८००९६६००९६

खबरों की दुनिया में

डॉ. प्रभा मुजुमदार

खबरें हैं कि
रात दिन बरसती हैं,
आसमान से
वर्ष के पूरे तीन सौ पैसठ दिन,
दिन के चौबीसों घंटे
हर घंटे के पूरे साठ मिनट
और हर मिनट के साठों सेकंड
बरसती हैं अक्सर
लू के थपेड़ों, अंधड़, लपटों, लावे और
चक्रवात की तरह.
किसी भी अन्य धारावाहिक की ही
उत्तेजना, सनसनी खलबली लिये.
पेप्सी या टूथपेस्ट
कार या टी. वी.
और भी कितने विज्ञापनों के बीच,
हर चैनल पर वे ही
खबरें फैल रही हैं
जंगली घास की तरह
बरसाती पतंगों की तरह
मरती हैं अपनी ही मौत
मक्खियों सी भिनभिनाती,
मेंढक सी टर्राती
या केंचुए सी लिजलिजी
कभी कभार शेर सी दहाड़ती भी हैं,
खबरें
जो किसी दुर्भाग्य में भी
ढूँढ़ लेती हैं संभावनाएं
किसी के आंसुओं में
चटपटी-तीखी-मीठी सनसनाहट.
सूचना नहीं, संकेत नहीं
अंतिम निर्णय की तरह
थोपी जाती हैं
एकांगी, इकतरफ़ा
मगर फिर भी

पूरी प्रामाणिकता का दिखावा लिये
इतनी रफ़्तार से
बरसती हैं खबरें
इस कदर जकड़ती हैं सबको
कि किसी छोटे से क़स्बे में
नून, तेल, लकड़ी की
मशक्कत में जीता व्यक्ति भी
झांक लेता है
दुनिया के सबसे ताकतवर आदमी की
निजी ज़िंदगी के पन्ने.
बॉलीवुड ही नहीं
हॉलीवुड के सितारों की
झिलमिलाहट देख लेता है
अपने आंगन के अंधेरे में,
खबरें जिनकी बदौलत
कोई भी शून्य राती-रात
चर्चित, विवादास्पद शख़्सियत
किसी खूंखार आतंकवादी पर
उंडेल देती है ग्लैमर,
विध्वंस और क्रूरता की
शर्मनाक दास्तां
सोप ओपेरा की तरह
पेश करती हैं
खबरों की राजनीति,
खबरों का अर्जेडा और अर्थतंत्र
जानने की कोशिश करना
बचकानी हरकत है,
कुछ भी सोचने से पहले
धुंधला जाती हैं वे
नये पन्नों पर.
लिख दी जाती है फिर
आज की ताज़ा ख़बर
आपके लिए
सबसे पहले....

ए-३/८०३, अनमोल टॉवर्स, नारणपुरा, अहमदाबाद-३८००६३.

‘दरवाज़ा’

डॉ. इला प्रसाद

यह उसके सामने हुआ.....

वह अपनी टीचर टेबल पर बैठी ज्यामिति की किताब पलट रही थी कि धम-धम की आवाज़ से चौंक गयी. नज़र उठायी तो वही लड़का जो उसकी मेज़ के ठीक सामने की पंक्ति में, तीसरी बेंच पर - यानि कि क्लास के बीचों बीच बैठा, उसे शुरू से परेशान करता रहा था, अब अपनी जगह पर खड़ा होकर अपना दाहिना पैर लगातार कालीन पर पटक रहा था. ‘ध्यानाकर्षित करने का एक और तरीका’ उसने सोचा और अपनी जगह से उठकर उसकी बेंच की तरफ बढ़ आयी.

जब से वह कक्षा में घुसा था, चारू सान्याल परेशान थीं. पहले उसने लैपटॉप पर संगीत बजाकर नृत्य करने की कोशिश की, फिर ज़ोर-ज़ोर से बातें करने की. बार-बार चारू को उसे टोकना पड़ा, रोकना पड़ा. अब यह नया तमाशा. हर क्लास में एक दो ऐसे होते ही हैं, सोचती हुई वह उसकी बेंच के सामने जा पहुंची.

अब वह उसके बायीं ओर खड़ी थी, कुछ दूरी पर, दरवाज़े से नज़दीक और अपनी टेबल से दूर. कमरे में चौड़ाई में बेंचों की तीन पंक्तियां थीं और बीच वाली पंक्ति में लंबाई में छह. कुल जमा तेईस-चौबीस छात्र-छात्राएं यानि कि भरा हुआ कमरा. दरवाज़े की ओर की पंक्ति उस जगह ख़त्म होती थी, जहां वह अभी खड़ी थी. उसके सब ओर अपना बस्ता उठाये लड़के-लड़कियां बाहर निकलने के लिए खड़े, घंटी बजने के इंतज़ार में. पीरियड समाप्त होने में मुश्किल से पांच मिनट थे.

वह ठीक से उसे देख सकती थी. वह अपना पैर एक लैपटॉप पर पटक रहा था. धम-धम ... बड़ी तेज़ी से कंप्यूटर के हिस्से अलग हो रहे थे. कंप्यूटर का स्क्रीन अलग, निचला कवर अलग और की-बोर्ड अलग... वह दरवाज़े की तरफ़ शीघ्रता से बढ़ी.

“ओ माई गाश!” वह लड़का चीखा, “मैं मुझे रिपोर्ट करेगी.” बिजली की गति से वह दरवाज़े की तरफ़ झपटा और कमरे से बाहर हो गया. दरवाज़ा फिर बंद था, जब तक चारू ने दरवाज़ा खोल कर बाहर जाने की कोशिश नहीं की, वह समझ भी नहीं पायी कि उसने

दरवाज़े को बंद कर बाहर से उसका हैंडल मजबूती से थाम लिया है.

वह अंदर से हैंडल घुमाती रही. बेकार... वह उसे बाहर नहीं जाने देगा. क्या करे! सोचती हुई कुछ क्षण खड़ी रही कि घंटी बज गयी. वह लड़का, जिसने अपना नाम उसे निक एंडरसन, बतलाया था, अब दौड़कर भाग खड़ा हुआ. वह बस इतना देख सकी कि वह ऑफिस की तरफ़ वाले कॉरीडोर की ओर मुड़ा. अब दरवाज़ा पूरी तरह खुला था. लड़के-लड़कियां बाहर निकलने लगे. चारू के पास उन्हें रास्ता देने के सिवा दूसरा विकल्प न था. वह किनारे हो गयी. मिनटों में सारे छात्र-छात्राएं बाहर हो गये और अगली कक्षा के लिए दूसरे छात्र कमरे में प्रवेश करने लगे.

वह किंकर्तव्यविमूढ़ सी, अपनी टेबल की तरफ़ बढ़ी. बुदबुदाती हुई—“मुझे रिपोर्ट करनी है.” एक छात्रा ने शायद उसकी परेशानी समझी, “मैंम ऑफिस इस कमरे के बाद ही हैं, आप जाकर रिपोर्ट कर सकती हैं.”

वह जानती तो थी, निर्णय नहीं ले पा रही थी. क्लास छोड़ कर जाये न जाये... इस लड़की ने उसे उबार लिया. उसने वह छोटा सा कॉरीडोर पार किया और बायें मुड़कर ऑफिस के सामने जा खड़ी हुई. ऑफिस के बाहर ही हाउस प्रिंसिपल के असिस्टेंट मिस्टर जोनाथन खड़े थे.

चारू ने रास्टर उनके सामने कर दिया -“यह लड़का, निक एंडरसन जिसने अपना नाम यहां लिखा है, इसने एक लैपटॉप तोड़ दिया है.”

“उस क्लास में कोई निक एंडरसन नहीं है.” मिस्टर जोनाथन उसे लगभग डांटते हुए बोले.

“मैं नहीं जानती. उसने कहा कि उसने नया-नया ज्वायन किया है, उसका नाम रास्टर में नहीं है. उसने कंप्यूटर तोड़ा है, मेरे सामने.”

“वह निक एंडरसन नहीं है.”

उसने असहाय भाव से उन्हें ताका.

“मैं पता कर लूंगा.”

चारू वापस लौटी तो एक सवाल था उसके मन में—क्या मिस्टर जोनाथन को मालूम है कि वह किसकी बात कर रही है!

शिक्षा : काशी हिंदू विश्वविद्यालय से भौतिकी में पीएच. डी. एवं भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान मुंबई में सी. एस. आई. आर. की शोधवृत्ति पर शोध परियोजना के अंतर्गत कुछ वर्षों तक शोधकार्य. राष्ट्रीय एवं अंतरराष्ट्रीय वैज्ञानिक शोध-पत्रिकाओं में कई शोधपत्र प्रकाशित.

लेखन : छात्र जीवन से ही काव्य लेखन की शुरुआत. प्रारंभ में कॉलेज पत्रिका एवं आकाशवाणी तक सीमित. वैज्ञानिक शोधकार्य के दिनों में लेखन क्षमता भी पल्लवित होती रही. पहली रचना 'इस कहानी का अंत नहीं' जनसत्ता (मुंबई) में प्रकाशित. पत्र-पत्रिकाओं में नियमित लेखन. अमेरिका की पत्रिका 'हिंदू जगत' में संपादन सहयोग. कनाडा की पत्रिका 'हिंदी चेतना' के फादर कामिल बुल्के विशेषांक में संपादन सहयोग. भारत की पत्रिका 'शोध दिशा' के अमेरिकी प्रवासी कथाकार अंक का संपादन.

प्रकाशन : 'धूप का टुकड़ा' व 'उस स्त्री का नाम' (कविता-संग्रह), 'इस कहानी का अंत नहीं' (कहानी-संग्रह) प्रकाशित.

संप्रति : अध्यापन (भौतिकी). अमेरिकी 'लोन स्टार सिस्टम' से संबद्ध. वैज्ञानिक शोध एवं लेखन के क्षेत्र में अपनी जड़ों की तलाश.

३ जून १९६०,
रांची (झारखंड)



डॉ. इला प्रसाद

वह वापस कक्षा में जा खड़ी हुई. अब तक सब अपनी जगह ले चुके थे. अभी दो पीरियड और थे. उसे झेलना था. इस टीचर की क्लास में सहायक शिक्षिका का काम उसे लेना ही नहीं था. अब बैठे, रिपोर्ट लिखे. रिपोर्ट तो लिखनी है वरना उसी की रिपोर्ट होगी. वह भुगत चुकी है पहले. दो बार. एक बार जब उसने बच्चों के स्कूल में काम किया था. बच्चे उससे झूठ बोल कर चले गये थे और वह पूरे मैदान में उन्हें ढूंढती रही थी. थक हार कर बाकी बच्चों के साथ जब क्लास में पहुंची थी तो वे पहले से वहां थे. उनसे कुछ पूछती इससे पहले ही घंटी बज गयी थी. दूसरी कक्षा की शिक्षिका ने उसे प्यार से जाने को कह दिया था. और अगले दिन उसने जाना था कि उसकी रिपोर्ट की गयी है कि उसने बच्चों को मैदान में अकेला छोड़ दिया था, वे बस-रूट पर दौड़ लगा रहे थे.

“मैंने फिर शिकायत सुनी तो आप इसके आगे कभी इस स्कूल डिस्ट्रिक्ट में काम नहीं कर सकेंगी. यह हमारा नियम है.” मिस्टर डिलार्ड ने फ़ोन पर उसका स्पष्टीकरण सुनने के बाद कहा था. गोया जो कुछ अपनी सफ़ाई में उसने कहा, वह अर्थहीन था.

फिर पिछले महीने हुई चोरी. इसी स्कूल में थी. दूसरी टीचर की कक्षा थी. तब उसने रिपोर्ट लिखी थी,

लेकिन यह नहीं लिखा कि दूसरी सहायक शिक्षिका ने उसे उस छात्र को लंच आवर में कक्षा में रहने देने के लिए कहा था, जिस पर चोरी का आरोप है. अक्सर ही सोचती है क्यों किया उसने ऐसा? वह टीचर अक्सर उसे कॉरीडोर में मिल जाती है और मुस्करा कर एक “हाई” उसकी तरफ उछाल देती है. चारू को लगता है वह उसका मजाक उड़ा रही है. समस्या वही है, उसे अपनी समझ पर कभी भरोसा नहीं रहा. उस दिन भी उसने यही सोचा था कि क्या पता उसने गलत सुना हो, गलत समझा हो. सब कुछ इतना भिन्न है इस देश में कि पहले पहल तो आत्मविश्वास ही खत्म हो जाता है और जब तक अपने पर विश्वास जमे, बहुत कुछ गलत हो चुका होता है. इनकी भाषा, इनका देश! सब कुछ तो इनका है. वह दस बरस से अमेरिका में, इस देश में है, तब भी यहां कुछ भी, कभी भी अपना नहीं लगता. इनके क्रायदे कानून समझने में ही समय बीतता जा रहा है.

“अमेरिका के स्कूल आज से चालीस साल पहले भी ऐसे ही थे. मैं इन्हीं स्कूलों में पढ़ी हूँ और आज यहां हूँ.” उसके कानों में बायलॉजी की, अधेड़ वय लेकिन खूबसूरत, स्थायी शिक्षिका मिसेस डोनाह्यू का वाक्य गूंज गया. अच्छी है वह! बहुत सारी बातें बतलायी थीं उसने

मुझे. चारू को याद आया. क्यों उम्मीदें पालती है वह!

लड़के फिर शोर कर रहे थे. वह अब तक चुपचाप उपस्थिति तालिका में सीटिंग चार्ट से उनकी उपस्थिति दर्ज कर रही थी. अब उसने मुंह खोला, “मैं समझती हूँ कि अब आप सब ये सवाल हल करेंगे और पीरियड के अंत में मुझे यह प्रश्नपत्र वापस कर देंगे. आप सभी समझदार हैं. मुझे सहयोग कीजिए. मैं एक अच्छी रिपोर्ट छोड़ना चाहती हूँ.”

उसने अपनी बात खत्म भी नहीं की थी कि उसने खुले दरवाजे से निक एंडरसन को कमरे में घुसते देखा. उसका चेहरा कठोर हो गया. वह कुछ कहती उससे पहले वह बोला, “मैम मुझे आपसे कुछ कहना है.”

“मैं तुम्हारी रिपोर्ट करूंगी.”

वह उल्टे पैरों वापस हो गया.

तुममें से कोई जानता है, “इसका नाम क्या है?” उसने कक्षा की तरफ सवाल उछाला.

“हां, मैं जानती हूँ.” एक मोटी काली लड़की बोली, “वह ब्रैक्सटन जान्सन है.”

“क्या?” चारू चौंकी.

“हां, ब्रैक्सटन जान्सन.”

उसने कागज़ पर लिखा. एक एक अक्षर—ब्रैक्सटन जान्सन. किंतु तब भी चारू को भरोसा नहीं हुआ. उसे पता है, ये खूब झूठ बोलते हैं. ग्यारहवीं कक्षा है. कोई बच्चे थोड़े ही हैं. सारे छल-छद्म सीख चुके, टीचर को चराने वाले विद्यार्थी! विद्यार्थी भी हैं क्या? पता है, पास तो होना ही है क्योंकि वे यदि फेल हुए तो टीचर की छुट्टी होगी. स्कूल बच्चों का है, बच्चों के लिए है!

उसने मन ही मन तय किया कि वह निक एंडरसन ही लिखेगी अपनी रिपोर्ट में. उसने अपना परिचय पत्र उसे दिखाया नहीं. वह किस तरह जाने कि उसका वास्तविक नाम क्या है. ये अपना परिचय पत्र मांगने पर भी दिखाते नहीं. सौ बहाने हैं इनके पास. कौन बहस करे!

यह पीरियड खत्म हुआ तो वह छोटा लड़का कमरे में आया जो पिछले पीरियड में उसकी टेबल के ठीक सामने वाली पहली बेंच पर था. सारे वक्रत या तो अपनी सहपाठिनियों से धीमी आवाज़ में बात करता रहा या फिर अपने लैपटॉप पर व्यस्त. चारू ने सोचा, यह कम से कम दूसरों को तंग तो नहीं कर रहा! उसने उसे एक बार भी

नहीं टोका था. ये टीचर का दिया काम करें न करें, इनकी मर्जी! वह जबरदस्ती नहीं कर सकती. बस वे शोर न करें. दूसरों को शांतिपूर्वक काम करने दें. उसने इस नियम का एक बार भी उल्लंघन नहीं किया था. बस पीरियड खत्म होने से पंद्रह बीस मिनट पहले निक उसे स्टेपलर लेकर मारने आया था, तब उसने अपना बचाव करते हुए चारू से कहा था, “मैम, काल द पोलिस.” चारू ने निक को डांटा था और स्टेपलर छिन लिया था. वह वापस अपनी बेंच पर लौट गया था. यह छोटा लड़का क्यों आया वापस? सोचती हुई वह उसे देखने लगी. वह सीधा कमरे में घुसा. टूटा कंप्यूटर अभी कमरे में ही था- एक कोने में पड़ा. चारू ने अब देखा. उसने लैपटॉप उठाया और जाने लगा. चारू ने उसे रोका “यह टेबलेट पी सी तुम्हारा था?”

“हां.”

“उसका नाम क्या है, जिसने तोड़ा?”

“मैं नहीं जानता.”

“देखो, मुझे रिपोर्ट लिखनी है. तुम्हारा नाम क्या है?”

“मैम, मैं कुछ नहीं जानता.” वह कंधे उचकाकर बोला, डरा हुआ सा. “मैं उसे नहीं जानता. मेरा नाम जॉन रिंगर है.”

चारू उपस्थिति-तालिका उठा लायी. उसने अपना नाम रास्टर में दिखा दिया, “जॉन रिंगर.”

“वह लड़का इस क्लास में है या बाहर से आया था?”

“वह इस क्लास में है. लेकिन मैं उसे नहीं जानता.”

चारू ने फिर कुछ नहीं पूछा. वह चला गया.

चलो, इतना तो पता चला कि वह इस क्लास में है. उसका नाम रास्टर में है. ये चाहें, तो जान लेंगे. चारू ने सोचा. एक पीरियड और था, आखिरी. उस क्लास में लड़के अपेक्षाकृत शांत थे और चारू ने धीरज से वह पीरियड भी निकाल लिया.

उसने सातवें पीरियड के बाद, जब सब चले गये, अपनी रिपोर्ट लिखी. सारी कक्षाओं का विवरण दिया और पांचवें पीरियड में जॉन रिंगर का कंप्यूटर निक एंडरसन ने तोड़ा लिखकर अगली पंक्ति में जोड़ा, “उन्होंने मुझे बतलाया कि उनके नाम निक एंडरसन और जॉन रिंगर हैं.”

कक्षा दूसरी मंजिल पर थी. फ़ाइल जमा करने नीचे

ऑफिस में गयी तो प्रिंसिपल की सेक्रेटरी रेबेका ने सदा की तरह हंसकर पूछा, “अच्छा, तो कैसा रहा तुम्हारा आज का दिन?”

चारू ने पूरी घटना उसे सुना दी. रेबेका ने तुरंत फ़ोन मिलाया. “मिस्टर जोनाथन, मिस चारू सान्याल बता रही हैं कि उनके क्लास में एक लड़के ने दूसरे का लैपटॉप तोड़ दिया और उन्होंने आपसे संपर्क किया था.”

“वह लैपटॉप पहले से टूटा हुआ था.”

रेबेका उसकी ओर मुड़ी, “मिस्टर जोनाथन कहते हैं कि वह लैपटॉप पहले से टूटा हुआ था.”

“नहीं. वह मेरे सामने तोड़ा गया.” चारू सान्याल एक बार फिर चौंक गयी.

“मिस सान्याल कहती हैं कि वह तोड़ा गया.”

इससे आगे का उत्तर चारू सुन नहीं सकी. रेबेका ने उसे जाने के लिए हाथ हिला दिया.

चारू घर वापस आ गयी. आज के दिन को कोसती हुई. अब उस स्कूल में जायेगी ही नहीं. कैसे गुंडे लड़के हैं!

रवि का रूटीन चेकअप था. वह यूं भी अगले तीन दिनों तक छुट्टी पर रहने वाली थी. तब तक यह घटना भी अतीत हो जायेगी. मन बदल जायेगा और वह फिर से एक बार काम में जुट सकेगी. जीवन कठिन है लेकिन स्वीकार्य.

वह व्यस्त रही. जब चेकअप की रिपोर्ट सही आयी तो रवि भी खिल गया. बहुत समय बाद डॉक्टर ने कहा कि उसके टॉन्सिल ठीक हैं और वह आइसक्रीम खा सकता है. चारू उसे मैकडॉनेल ले गयी. वह खेलता रहा, खाता रहा और वह सुखी, शांत महसूस करती रही. कल शुक्रवार है, वह चाहे तो काम पर जा सकती है. अरिंदम से तलाक के बाद ज़िंदगी दोनों बच्चों और नौकरी में सिमट कर रह गयी है. लेकिन अब उसे बुरा नहीं लगता. चारू सान्याल इतनी कमज़ोर औरत नहीं है. अपने बूते पर जी सकती है. रवि तो स्कूल जायेगा ही. वह सोचने लगी. छुट्टी तो इसलिए ली थी कि कहीं अगले दिन भी उसके कुछ चेकअप न हों. छोड़ो, जाने दो. वह कल घर में रहेगी और बच्चों के लिए नारियल में मछली बनायेगी. रवि शौक से खाता है और सोना भी खुश हो जाती है.

अगला दिन उसकी मर्जी का नहीं था. अतीत वर्तमान से अलग होना ही नहीं चाहता था. वह इतनी ज़ल्दी मुक्त

नहीं हो सकती, इसका अनुभव उसे तब हुआ जब नौ बजे ही, जब वह बच्चों को स्कूल छोड़ कर, शाक-भाजी लेकर घर लौटी थी, फ़ोन की घंटी बजी.

“मैं रेबेका स्मिथ बोल रही हूँ. कैसी हैं आप?”

“ठीक हूँ आप कैसी हैं?”

मैं बिल्कुल ठीक हूँ. आपसे उस दिन की घटना के बारे में जानना था. क्या आप यहां आ सकती हैं? प्रिंसिपल आपसे बात करना चाहते हैं.”

“नहीं, मैं आ तो नहीं सकती, सॉरी.” क्यों जाये वह? लिख कर दे चुकी है.

“क्या, जो कुछ आपने मुझे बतलाया, उसकी रिपोर्ट मुझे ई-मेल कर सकती हैं?”

“वह रिपोर्ट तो मैं क्लास टीचर-मिस्टर मिन्ह के लिए छोड़ आयी थी, उनकी टेबल पर.”

“अच्छा, आपने रिपोर्ट लिखी थी?”

“बिल्कुल. मैं हमेशा लिखती हूँ.”

“फिर भी क्या आप एक बार फिर से उस घटना की रिपोर्ट मुझे ई-मेल कर सकती हैं?”

“ओ. के.”

चारू सान्याल जानती है, उसे यह करना है. वह मना नहीं कर सकती.

उसने फिर से उस घटना का विवरण लिखा और भेज दिया. फिर सोचने लगी, क्यों मांगा गया उससे यह? क्या मिस्टर मिन्ह ने रिपोर्ट छुपा दी? उनकी क्लास की रेपुटेशन खराब हो रही होगी, यही न? झूठ बोल कर, सारे बच्चों को पास करा कर अपने लिए बोनस लेने वाले टीचर. आये दिन अखबार में ऐसी खबरें होती हैं.

और प्रिंसिपल को क्या बात करनी थी? क्यों?

अच्छा ही है, वह सहायक शिक्षिका है, उस स्कूल में स्थायी नौकरी में नहीं है, वरना क्या इस तरह प्रिंसिपल को ना कर पाती? होती तो शायद मिस्टर मिन्ह की तरह बचने की कोशिश करती, मिस्टर जोनाथन की तरह झूठ बोलती.

या कि वे सहायक शिक्षिका होने के नाते उसके कंधे पर रखकर तलवार चलायेंगे, एक दूसरे पर? पता नहीं कौन किसकी गर्दन उतारने वाला है. उसे क्या!

थोड़ी देर बाद उसके कंप्यूटर में एक मेल था. उसकी रिपोर्ट किन्हीं मिस्टर रान हिकमैन को फॉर्बर्ड की

गयी थी. यह कौन है? उसने सोचा और फिर उतनी ही तेज़ी से उस विचार को परे झटक दिया. “होगा कोई, मुझे क्या! मैं अपना कर्तव्य कर चुकी. अब ये अपना काम करें. इसके आगे मेरी कोई ड्यूटी नहीं बनती.”

दो सप्ताह बीत गये. उसने फिर उन लड़कों को नहीं देखा. वह स्कूल नहीं जाने की कसम खा चुकी थी. कोई और नौकरी खोज लेगी. जहां जाओ, वहीं गड़बड़. इससे तो वाल-मार्ट में कैशियर की नौकरी अच्छी. यह तीसरी बार है न, जब वह फंसी है. ठीक है, इस बार वह सावधान थी, रिपोर्ट लिखी है. लेकिन बच कर रहना ही अच्छा. वह नहीं जायेगी स्कूल. कोई और नौकरी खोजेगी, लेकिन, तब जान जैसों की सहायता कौन करेगी? बार-बार वह घटना जब चलचित्र की तरह दिमाग में घूमती और वह रील आगे पीछे करती तो एक ही सवाल मन में घूमता - “क्या यह बुलिंग का केस है? कितना डरा हुआ सा लगा था वह, जब उसने कहा था, “मैं कुछ नहीं जानता.” यह भी हो सकता है कि वे बड़े लड़के उसे डरा-धमका रहे हों. स्टेपलर लेकर वह निक उसे मारने क्यों आया! उसे तभी समझ लेना चाहिए था कि कुछ गड़बड़ है. उसने बस निक को डांटा था और जॉन को अपने सामने की बेंच से हट कर बगल की बेंच पर बैठने का आदेश दे दिया था. उसने उसकी बात मानी भी थी. चुपचाप अपना लैपटॉप लेकर दूसरी बेंच पर चला गया था. अगर उन दो लड़कियों ने उसे बुलाया न होता, तो वह वापस उसके सामने वाली बेंच पर लौटा भी न होता. ये लड़कियां भी कुछ कम नहीं होतीं. क्लास में बैठकर लिपस्टिक लगायेंगी, मस्कारा लगायेंगी और पर्स से आइना निकाल कर शकल देखेंगी. इन्हें देखकर लगता ही नहीं कि ये पढ़ने वाली लड़कियां हैं! और वह जॉन, छोटा सा बच्चा! लगता ही नहीं कि ग्यारहवीं का छात्र है.

ज़रूर ही उसे डराने के लिए, उसका कंप्यूटर तोड़ा होगा कि वह लड़कियों से अलग हटे. लड़कियों को लेकर भी ये आपस में झगड़ लेते हैं. और स्कूलों में गैस भी तो होते हैं. हो सकता है वे चाहते हों कि वह उनकी गैस में आये. जब उसने निक को कंप्यूटर पर तेज़ म्यूज़िक बजाने से मना किया था, “यू कैन्ट डिस्टर्ब अदर्स.” (तुम्हें दूसरों को परेशान करने का कोई हक नहीं) तो उसने अपनी बगल में बैठे भीमकाय से लड़के की तरफ़

इशारा करते हुए कहा था. “ही इज माई बिग ब्रदर. आई डू वाटेवर ही टेल्स मी.” (यह मेरा बड़ा भाई है. मैं जो भी करता हूं, उसके कहने से करता हूं) बिग ब्रदर से उलझने की तो चारू की भी हिम्मत नहीं हुई थी. पहली नज़र में गुंडा लगा था. लेकिन उसके टोकने का इतना असर हुआ था कि संगीत धीमा हो गया था. बिग ब्रदर होगा गैंग का सरदार. उसने सोचा. ड्रग्स लेते होंगे और गैंग होगा इनका. पक्का! नहीं तो उसकी इतनी उत्तेजना का और क्या कारण हो सकता है! जॉन उसकी स्मृति से नहीं हटा. जब भी सोचा, उसे उस लड़के जॉन पर फिर से तरस आया और अच्छा लगा यह सोच कर कि उसने रिपोर्ट की.

फिर एक सुबह फ़ोन की घंटी बजी.

“हाई मैम, गुड मॉर्निंग. रेबेका स्मिथ हियर.”

“गुड मॉर्निंग.”

“क्या आज आप घर पर हैं?”

“हां,” पता तो इसे होगा ही. स्कूल डिस्ट्रिक्ट की साइट पर देख लिया होगा. झूठ क्यों बोले.

“क्या आज आप हमारे स्कूल आ सकती हैं? पुलिस उस घटना के संबंध में आपसे बात करना चाहती है.”

“कब तक चलेगा यह सब?” वह खीझ गयी.

“मैं नहीं जानती मैम, सॉरी. आप कब आ रही हैं?”

“अभी.” निबटाओ इन्हें. उसने सोचा. इस स्कूल में क्रदम रखना नहीं चाहती और यह स्कूल पीछा नहीं छोड़ रहा.

“आप सीधा ऑफ़िस में आयेंगी. पोलिस ऑफ़िसर मिस जैक्सन आपका इंतज़ार कर रही हैं.”

वह गयी. मिस जैक्सन अच्छी लगी उसे. उसका चेहरा कुछ कुछ उसकी प्रिय हॉलीवुड अभिनेत्री जेनीफर लोपेज की याद दिलाता था. सिर्फ़ चेहरा ही नहीं पूरा व्यक्तित्व. शायद इसलिए उसे वह अच्छी लगी, बाद में चारू ने सोचा. अपने कमरे में ले जाकर उसने बड़ी शांति से बात की. इससे पहले कभी इस कॉरीडोर से गुज़रते हुए चारू सान्याल ने ध्यान भी नहीं दिया था कि यहां पर पुलिस कक्ष है.

आज अंदर गयी तो जाना कि वह ऑफ़िस काफी बड़ा था. वह और मिस जैक्सन — बस दो लोग वहां, उस हालनुमा कमरे में. उसने बहुत सारी पुलिस कारें देखी हैं स्कूल कैम्पस में, हो सकता है सब यहीं बैठते हों अवकाश

में. पुलिस ही कंट्रोल करती है, टीचर कभी ऐसे-वैसे मामले में छात्र-छात्राओं से नहीं उलझते.

“मैं जानती हूँ, आप सिर्फ एक दिन के लिए वहां थीं, उस कक्षा में. और सब लड़कों के नाम जानना, उन्हें पहचानना आपके लिए मुश्किल है लेकिन तब भी मैं समझती हूँ कि यह केस मैंने सॉल्व कर लिया है. मैं आपको कुछ तस्वीरें दिखाऊंगी.

आप बतलायेंगी कि किस लड़के ने कंप्यूटर तोड़ा. ये कंप्यूटर स्कूल डिस्ट्रिक्ट की तरफ से उन्हें दिये जाते हैं. इन्हें जानबूझ कर क्षतिग्रस्त करने की सजा जेल या दो हजार डॉलर्स का जुर्माना है.”

चारू सान्याल चकित रह गयी. बोली कुछ नहीं. सोचा, तो क्या इसीलिए इस घटना पर पर्दा डालने की कोशिश की गयी! फिर ख्याल आया, ऐसा क्या विशिष्ट है इन कंप्यूटरों में? ये खुले बाजार में चार-पांच डॉलर्स में मिल जाते हैं. प्रकटतः बोला—“इतनी कीमत?”

“ये सीधे कंपनी से खरीदे जाते हैं!”

कुछ समीकरण समझ में आये. वह चुप हो गयी. विषय बदला, अपनी आशंका जाहिर की, “मैं सोच रही थी कि यह बुलीइंग का केस तो नहीं!”

“नहीं, वे सब दोस्त हैं. जहां तक मैं समझती हूँ. उन्होंने मुझे भ्रमित करने की भरपूर कोशिश की. क्या आप कह सकती हैं कि वह लड़का उस कक्षा में है और हाल-वे से नहीं आया था?”

“हां, वह पूरे समय क्लास में था.”

“ठीक है, आप फोटो देखिए.”

कंप्यूटर स्क्रीन पर, बंद कमरे में, उस क्लास के सारे छात्रों की तस्वीरें उभरीं. एक के बाद एक. चारू सान्याल ने पहचानने में कोई गलती नहीं की. वह था वहां, दुष्ट, जिसने जॉन को धमकाया था पहले स्टेपलर से और फिर उसका पी. सी. तोड़ा था पैर से मार-मार कर. बिग ब्रदर भी. जॉन की तस्वीर भी उभरी — भोला, मासूम चेहरा, छोटा बच्चा. जिसकी वह सहायता करना चाहती थी.

उसने दोनों तस्वीरें पहचानीं.

“यह जॉन रिंगर है.. इसका कंप्यूटर तोड़ा गया.”

“यह जॉन रिंगर नहीं है.”

“लेकिन ...” उसने सोचा — यह क्या गड़बड़ झाला है. वह कम से कम एक नाम तो सही जानती थी.

उसे भरोसा था, उस मासूम चेहरे पर.

“मैं जानती हूँ.” उसने आपको ग़लत बतलाया. आपकी रिपोर्ट में नाम ग़लत हैं लेकिन आप नियमतः उन्हें अब बदल नहीं सकतीं.”

“मैंने लिखा है कि उन्होंने ये नाम बतलाये.”

मिस जैक्सन चुप रहीं. रिपोर्ट की प्रति उनके हाथ में थी. वे पढ़ने लगीं.

“इसका नाम क्या है?” उसने मिस जैक्सन से पूछा.

“यह ऐश्लिन रॉकफेलो है.”

“इसी का कंप्यूटर था?” चारू सान्याल अब सारी घटना को नये सिरे से समझना चाहती थी.

“हां, कंप्यूटर इसी का था, जो तोड़ा गया.”

“जिसने तोड़ा, उसका नाम क्या है?”

“जॉन रिंगर.”

एयर कंडीशन्ड स्कूल बिल्डिंग के अंदर, पुलिस के कमरे में बैठी, चारू सान्याल पसीने से भीग गयी. अब समझने को कुछ भी तो नहीं बचा था. सफ़ेद शर्ट पसीने से तर थी, गोया आज सुबह नहायी ही नहीं. ललाट से चूती पसीने की बूंद अब आंखों में जाने को तैयार. जब घुसी थी तो कमरा बहुत ठंडा लगा था ... ! उसने जीन्स की जेब में हाथ डाला. कागज़ का रुमाल निकाला. पसीना पोंछा और सारी ताकत बटोर कर मिस जैक्सन से अपना आखिरी सवाल पूछा—

“यह केस कब तक चलेगा?”

“मैं नहीं जानती.”

फिर शायद मिस जैक्सन ने उसकी परेशानी समझी.” मेरा वश चले तो मैं इस स्कूल के सारे नियम दुरुस्त कर दूँ. इन लड़कों को लाइन पर ले आऊँ, लेकिन मेरी भी सीमाएं हैं मिस सान्याल. मैं अपनी रिपोर्ट आज ही भेज दूंगी, लेकिन उसके बाद की कार्यवाही मेरे ऊपर के अफसरों के हाथ में है.”

स्कूल से लौटते हुए चारू सारे रास्ते यही सोचती रही कि “बुली” वास्तव में कौन है और अंततः “बुलीइंग” किसकी हुई!

📍 12934 Meadow Run,
Houston, TX 77066 (USA)

e-mail : ila_prasad@yahoo.com

वहीं, वह गंगा ही था!

ललित निरंजन

मैं जब भी अपनी सड़क से गुजरता, मेरी दृष्टि अनायास ही मोड़ पर बैठे मोची पर पड़ जाती. दुबली-पतली काया वाला शरीर, सर पर के सफ़ेद झड़े-झड़े बाल, मुंह पर चेचक के दाग, रंग काला सा. तन पर केवल एक फटी-फटी सी लिपटी हुई धोती जो वह लुंगी की तरह लपेटे रहता था. सर पर तपती धूप से बचने के लिए अपना गमछा किसी तरह वहां पर एक छोटे से पेड़ से बांधकर लटका देता था. दो चार फटे जूते सिलने के लिए पड़े रहते, जिस तन्मयता से वह उनको सिलता था, वो सच में देखने वाली बात थी.

एक दिन जब मैं वहां से गुजर रहा था, मुझसे रहा नहीं गया, मैंने सोचा आज इससे कुछ बातें कर ही ली जायें. मैं धीरे-धीरे उसके पास गया और बोला कि मैं यहां बैटूँ?

“साहब आप यहां धूप में बैठियेगा?”

“हां, अगर तुम्हें कोई दिक्कत न हो.”

“साहब भला मुझे क्या दिक्कत होगी, भले आपको ही इस गमछी से छांव ना मिले.”

“कोई बात नहीं है भाई, इसी बहाने धूप सेवन भी हो जायेगा और विटामिन भी शरीर को मिल जायेगा.” यह कहकर मैं वहीं पर एक पत्थर पर आराम से बैठ गया.

मैंने उससे कहा कि पहले तुम अपना नाम मुझे बतलाओ?

“साहब हमारे नाम में रखा ही क्या है? सभी तो मोची, ए मोची कहकर पुकारते हैं फिर भी आप पहले आदमी हैं जो मुझे अपना नाम बतलाने के लिए बोल रहे हैं. साहब मेरा नाम है श्री गंगा राम मोची,” उसने बड़े चाव से अपना नाम बतलाया.

“मैं तुम्हें ‘गंगा’ के नाम से पुकारूंगा,” वह थोड़ा अचंभित तो हुआ पर खुश भी नज़र आया.

“पर तुमने अपना नाम बतलाने में ‘श्री’ क्यों इस्तेमाल किया?”

“क्या बतलायें साहेब, जब मैं छोटा था तो मुझे मेरे बाप ने सिखलाया कि जब भी किसी का नाम लो तो

उसके नाम के पहले ‘श्री’ ज़रूर लगाया करो, यह तरीका है बोलने का. और साथ-साथ उस आदमी का सम्मान भी हो जाता है. पर मेरे नाम के पहले कभी किसी ने ‘श्री’ लगाया नहीं, और वैसे भी मुझे तो मेरे नाम से कोई पुकारता भी नहीं. इसलिए जब भी अपना नाम बतलाने का मुझे मौका मिलता है तो मैं ‘श्री’ ज़रूर लगाता हूं.”

गंगा की बातें बड़ी दिलचस्प थीं, उसके बात करने का अंदाज बिल्कुल निराला था. लगता ही नहीं था कि ये बातें गंगा जैसा आदमी भी कर सकता है.

“हां तो गंगा तुम्हारे घर में और कौन-कौन से लोग हैं, मेरा मतलब तुम्हारे परिवार में और कौन हैं?” मैंने गंगा से पूछा.

गंगा ने कहा, “साहब एक जोरू थी जो अल्लाह को प्यारी हो गयी. एक लड़का है, और दो बेटियां, बस यह छोटा-सा परिवार है.”

“सभी साथ रहते हो क्या?”

“नहीं साहब, दोनों बेटियों की शादी तो बहुत पहले कर दिये. वे अपनी-अपनी गृहस्थी में मगन हैं. बेटे की भी शादी हम कर दिये. उसे भी दो बेटा हैं, वह अपनी जोरू बच्चों के साथ हमारे ही पास रहता है.” गंगा ने कहा.

हमारे बीच बातचीत का दौर चल ही रहा था कि इस बीच एक सज्जन वहां आये और बड़ी कड़क आवाज़ में पूछा कि हमारा चप्पल सिल कर तैयार है क्या? गंगा ने कहा कि हुजूर वो तो कब का तैयार कर हम रखे हैं, बस आपका ही इंतज़ार कर रहे थे.

“ठीक है ठीक है, कितना हुआ?”

“जो मुनासिब लगे दे दीजिए,” गंगा ने कहा.

“यही बात तुम लोगों की ठीक नहीं है, अपना रेट तुम लोग बतलाओगे नहीं और हमें क्या पता कि इसकी मजदूरी कितनी हुई? तुम लोगों को पैसा ऐंठने की बड़ी बुरी बीमारी है, बतलाओ कितना दे दें?”

“साहब बीस रुपैया दे दीजिए,” गंगा बड़ी विनम्रता से बोला.

“बीस रुपैया तो बहुत होता है, तुम लोग, इसी तरह

५ जुलाई १९४३, फारबिसगंज (बिहार)
स्नातक (सिविल इंजीनियरिंग - १९६४),

चार वर्ष तक भारतीय सेना में शॉर्ट सर्विस कमीशन, झारखंड सरकार में
जल संसाधन विभाग में मुख्य अभियंता पद से २००१ में सेवानिवृत्त.

हिंदी साहित्य में रुचि बचपन से ही थी. शिक्षा और नौकरी की आपाधापी
में चाहकर भी लेखन के लिए समय निकालना कठिन था. १९८० से कविताएं
लिखना प्रारंभ किया. ये कविताएं इंटरनेट पर 'अनुभूति' शीर्षक से ब्लॉग में
उपलब्ध हैं. धीरे-धीरे कहानी लेखन की ओर प्रेरित हुए. 'नहीं, वह गंगा ही था'
पहली प्रकाशित कहानी है. अन्य कुछ कहानियां प्रकाशन की प्रतीक्षा में हैं. एक
उपन्यास 'क्या तलाश है' प्रकाशनाधीन.

विभिन्न प्रकार के खाने बनाने और संगीत में रुचि.



कथाबिंब

लोगों को बेवकूफ बनाकर लूटते हो?"

"साहब, हम गरीब क्या लूटेंगे, हम तो रोज़ कमाते
और खाते हैं, कल के खाने तक का पैसा भी तो हमारे पास
नहीं बचता है. आज जो कमाई होगी उसी से एक शाम का
चूल्हा जलेगा, और हां साहब आप लोगन यही जूता
खरीदने के टाइम पर कभी-कभी चार-पांच हजार भी लुटा
देते हैं, उस टाइम में जब आपको दूकानवाला लूटता है तो
आप बड़ी खुशी खुशी लुट जाते हैं....? और वही जूता
जब फट जाता है और आप मरम्मत के लिए लाते हैं तो
बीस रुपैया भी आपको भारी लगने लगता है. एक बात और
साहब जिन लोगों ने लाखों, करोड़ों लूट कर अपनी-
अपनी... तिजोरी भर ली है और रोज़ ही लूट रहे हैं, उन्हें
कुछ कहने की आपको या किसी को कोई हिम्मत नहीं
होती!" इतना बोल कर गंगा ने एक गहरी सांस ली और
फिर बोला, "मैंने तो आपसे पहले ही कहा था कि जो
मुनासिब लगे समझ कर दे दीजिए, पर आपने ही कहा कि
अपना रेट बतलाओ, अब हम क्या कहें," गंगा इतनी सारी
बातें बड़ी सहजता से कह कर चुप हो गया.

गंगा की बातों में दम था, फिर उन सज्जन ने अपने
जेब से पंद्रह रुपये निकाले और गंगा की हथेली पर रख
दिये और बोले कि रख लो, बहुत हैं.

गंगा ने पैसों को तो रख लिया पर यह बोलने से नहीं
चूका कि साहब पांच रुपयें आपने फिर भी बचा ही लिये
हम गरीबन का पेट काटकर, चलिए ठीक ही है, इससे
आपके बच्चों का एक आधा चाकलेट तो निकल ही
आयेगा."

शायद गंगा की बात उन सज्जन को कहीं लग
गयी थी, उन्होंने और पांच रुपये जेब से निकाले और
चुपचाप गंगा को दे दिये गंगा के चेहरे पर की खुशी लौट
आयी थी, बोला, "अल्लाह आपका भला करे." शायद
उसे उसकी मेहनत की पूरी मज़दूरी जो मिल गयी थी.

मुझे भी कुछ और काम था, मैंने गंगा से कहा कि
अच्छा गंगा अब मैं चलता हूँ, फिर कभी आऊंगा.

"अच्छा साहब पर आइयेगा ज़रूर, आपसे बात
करके बहुत बढ़िया लगा, बहुत दिनों के बाद मन थोड़ा-
सा हल्का हो गया है."

"अच्छा साहब राम राम," यह कह कर गंगा
अपना सिर नीचे कर तन्मयता के साथ अपने काम में लग
गया, ऐसा लगा जैसे थोड़ी देर पहले कुछ हुआ ही ना हो.

मैं भी अपने मन में कई एक विचार लेकर वहां से
चल पड़ा.

मैं जब भी वहां से गुज़रता तो मेरा ध्यान अनायास
ही उसकी तरफ़ ज़रूर ही खिंच जाता, उसका भी ध्यान
अगर मेरी ओर पड़ता तो एक हाथ उठाकर सलाम की
मुद्रा में मेरा अभिवादन अवश्य करता. मैं भी अपना हाथ
उठाकर उसका अभिवादन स्वीकार कर लेता था, पर मुझे
लगता कि कहीं अपनी कातर आंखों से वह मुझसे कुछ
कहना चाह रहा हो, पर मैं रुक नहीं पाता और आगे
निकल जाता.

काफी दिनों के बाद एक दिन मैंने सोचा कि नहीं
आज गंगा के पास थोड़ा बैठ लूं, यह सोच कर मैं उसके
पास गया और बोला, "कैसे हो गंगा?"

गंगा ने अपनी नज़र उठा कर मेरी ओर देखा और बहुत खुश होकर बोला, “साहब अच्छा हूँ, आप कैसे हैं?”

“मैं भी ठीक-ठाक हूँ”, मैंने हंसते हुए कहा.

“साहब ऐसे क्यों बोलते हैं, अल्लाह आपको बरकत दें, हम तो रोज़ ही आपकी सलामती की दुआ करते हैं,” यह बोल कर थोड़ी देर के लिए वह चुप हो गया.

मैंने बातचीत का सिलसिला आगे बढ़ाने के लिए उससे पूछा, “अच्छा गंगा तुम्हारी उम्र कितनी हो गयी?”

वह कुछ देर तक तो सोचने लगा, फिर बोला, “साहब क्या है कि हमको तो पता नहीं कि किस सन में मेरा जन्म हुआ, वैसे भी क्या फरक पड़ता है कि कब हम जनमें, फिर भी आप पूछते हैं तो शायद मेरा जनम आज़ादी के साल हुआ था, फिर बड़े गर्व से बोला कि साहब कम से कम हम आज़ाद मुलुक में तो जनम लिये. फिर उसने अपने दोनों हाथ उठाकर ऊपर आकाश की ओर देखकर परनाम किया.

“यह तुम ऊपर किसको प्रणाम कर रहे थे?”

“साहब, हम अपने मैया और बाबूजी को परनाम कर रहे थे और धन्यवाद दे रहे थे कि कम से कम आप लोगों ने मुझे आज़ाद मुलुक में पैदा किया.”

मैं उसके भोलेपन पर मन ही मन मुस्करा रहा था.

“साहब आप जोड़ कर मुझे बतलाइए कि अभी मेरी क्या उमर हो गयी होगी?”

“मैंने मन ही मन हिसाब लगा कर उसे बतलाया कि तुम अभी तिरसठ साल के हो गये हो. पर उसे तिरसठ साल समझ में शायद नहीं आया. यह मैं भांप गया, क्योंकि वह अपनी मज़दूरी पांच, दस, बीस रुपये तक ही जानता था, इसलिए मैंने उसे समझाते हुए कहा, “कहने का मतलब है कि तुम तीन बीस, जमा तीन के हो गये हो.”

थोड़ी देर उसने अपनी उंगलियों पर कुछ हिसाब लगाया फिर शायद उसे तिरसठ का मतलब समझ में आ गया था, इसलिए बोला कि तब तो, मुलुक को आज़ाद हुए भी इतना उमर हो गया, पर हम लोगन तो आज भी वहीं पड़े हैं जहां कल थे. कोई फरके महसूस नहीं होता है. यह पता भी नहीं चला कब मुलुक के साथ-साथ

हमारी उमर भी मुलुके जितनी हो गया. लगता है, धीरे धीरे ऊपर जाने का वक़्त आ गया है, पर साहब अभी देह छोड़ने को मन नहीं करता, अभी तो मैं अपने पोते, पोतियों की शादी करूंगा तब अल्लाह मियां के पास जाऊंगा, जाना तो सब को पड़ता है.

माहौल थोड़ा भारी और बोझिल होता जा रहा था, पर गंगा आज कुछ और ही मूड में था. बोला, “आज एक गाना याद आ रहा है साहब, क्या राज कपूर ने गाया था? बिल्कुल ही बैलगाड़ी का गाड़ीवान लगता था. क्या तो नाम था उसका, अरे हां याद आ गया. हीरामन; ऊ फिलिम में जो नौटंकी की बाई बनी थी. उसका नाम भी हीराबाई था, वो बड़े प्यार से उसको फिलिमवा में ‘मीत’ कह के बुलाती थी. इतना कह कर गंगा शायद कहीं खो गया थोड़ी देर के लिए. लगा जैसे वह मन ही मन उस फ़िल्म का आनंद ले रहा हो, पर एकाएक बोल उठा — “अगर साहब आप कहे तो मैं आपको फिलिमवा का वो गीत सजन रे वाला गाकर सुनाऊं, अच्छा लगेगा सुनके साहब!”

“सुनाओ भी सुनाओ,” मुझे उसकी भोली बातों में आनंद का रस जो मिल रहा था.

फिर तो वो चालू हो गया — “सजन रे झूठ मत बोलो, खुदा के पास जाना है, ना हाथी है ना घोड़ा है, वहां तो पैदल ही जाना है, सजन रे झूठ मत बोलो.”

फिर वह मन ही मन गुनगुनाते हुआ बोला, “साहब एक बात तो है इस गाने में बड़ा दम है, राज कपूर ने भी बड़ी मस्ती में गाया है, और एक बात है साहब, सच ही तो है, सब कुछ तो यहीं धरा रह जायेगा, फिर काहे की इतनी भागम-दौड़ और हाय हाय. साहब यही बात मुझे समझ में नहीं आती है,” इतना बोलकर गंगा चुप हो गया.

बातचीत का यह दौर जैसे दार्शनिक होता जा रहा था. मैं भी शायद उसकी बातों में कहीं खो गया था. किसी को भी तो पता नहीं कि क्यों इंसान सारी ज़िंदगी भागता ही रहता है.

मुझे अपनी ही लिखी एक कविता ‘तलाश’ की कुछ पंक्तियां जेहन में आ रही थीं...

“ज़िंदगी है एक छलावा, एक धुंध एक भुलावा,
ज़िंदगी है सारी की सारी एक भटकन,
कभी ना ख़त्म होनेवाली एक तलाश!”

मन थोड़ा भारी हो रहा था. मैंने सोचा कि अब चलूं,

गंगा के भी काम करने का टाइम है, मैंने गंगा से कहा, “अच्छा गंगा, अभी तुम्हारे काम करने का टाइम है, मुझे भी कुछ काम याद आ गया, अभी मैं चलता हूँ.”

यह कहकर मैं जाने की मुद्रा में खड़ा होकर देह हाथ सीधा करने लगा.

“अच्छा राम राम साहब, बड़ा अच्छा लगा आज,” यह कहकर वह वहां पड़े फटे जूते की सिलाई में लग गया.

ऐसा लगा उसे इस बात का एहसास भी नहीं है कि मैं अभी वहीं पर हूँ. पर गंगा तो ऐसा ही था, वह बिल्कुल बिंदास वाला अंदाज, और यही बात मुझे उसकी सबसे अच्छी लगती थी. मैं धीरे-धीरे वहां से खिसक चला. ढेर सारे विचार मन में आ रहे थे. मैं गंगा के ही बारे में सोचता हुआ वहां से निकल पड़ा.

समय इसी तरह बीतता रहा, जून की तपती दुपहरी में कहीं भी बाहर निकलने का मन नहीं करता था, पर एक दिन मुझे बैंक में कुछ ज़रूरी काम निपटाने थे. झक मारकर घर से बाहर निकला. मोड़ पर नज़र दौड़ायी तो देखा गंगा ऊंध रहा है. शायद उसके पास काम नहीं था, या फिर तपती दुपहरी का मजा उठा रहा था. ख़ैर, मैं बैंक की ओर चल पड़ा. बैंक का काम ख़त्म करने के बाद वापस घर की ओर आ रहा था कि एक जानी पहचानी सी आवाज़ कानों में गूँजी.

“राम राम साहब,” नज़र उठायी तो देखा गंगा अपने दोनों हाथ जोड़कर बैठा था, शायद वह लंच ले रहा था, मन में एक कौतुहल सा जागा, देखें गंगा जैसे लोग क्या खाना खाते होंगे, यह सोचकर मैं उसके पास चला गया और अपने चिर-परिचित पत्थर पर बैठ गया.

“खाना खा रहे हो गंगा!”

“जी साहब.”

“क्या है खाने में आज.”

“साहब रोजे एक ही चीज़ रहता है, वही रोटी, नून, पियाज और सत्तू.”

“सब्ज़ी-उबजी साथ में नहीं है?” मैंने बड़ी ही उत्सुकता से पूछा.

“कहां साहब, सबजी उबजी कहां है हमरे नसीब में, हम तो सबजी का स्वाद भी कब चखे, यह भी याद नहीं रहता, हां वो हमारी बेटे की मेहरारू कभी-कभी सबजी या सालन महीने दो महीने में एक दो बार बना लेती है. बस

साहब, हम लोग तो रोटी और पियाज खा कर मगन रहते हैं. फिर सत्तू जो है, पानी में घोलकर नून के साथ पी लिया, बस गरमी से छुट्टी. साहब एक बात बतलायें, यह सत्तू जो है ना, समझिए, हम गरीबन का जान है. यह सत्तू नहीं रहता तो साहब पता नहीं ई गरीबन सब क्या खा कर पेट भरते और ज़िंदा रहते. बिहार, यू.पी. में साहब यही पूरा खाना हो जाता है. यह कहकर वह थोड़ी देर चुप हो गया, पर साहब आज पानी नहीं है हमारे पास. पानी लेना हम भूल गये.”

“कोई बात नहीं गंगा, मेरे साथ चलो, मेरा घर पास में ही है, वहां से पानी ले लेना.”

“चलिए साहब चलें, बहुत पियास लगी हुई है.”

मैं गंगा को साथ लिये घर की ओर चल पड़ा. घर पहुंचते ही मैंने उसको फ्रिज से एक ठंडी बोतल निकाल कर पानी पीने के लिए दी और कहा कि जितना पानी है पी लो और फिर हम बोतल भर देते हैं. साथ ले जाओ. आज गरमी भी तो बहुत है. वैसे, यह बोतल भी तुम ही रख लेना, जब कभी भी ठंडे पानी की ज़रूरत हो तो बे-हिचक यहां चले आना.

गंगा को सच में बहुत प्यास लगी हुई थी. वह गटागट पूरी की पूरी बोतल खाली कर गया. फिर बड़े ही कृतज्ञ भाव से सर झुका कर बोला, “साहब आज ई मशीन का टंडा पानी पीकर हम तिरिप्त हो गये, बहुत सुनते थे कि मशीन पानी टंडा कर देता है, पर पता चला कि ई मशीनवा तो सच्चे में बहुते ही टंडा कर देता है, साहब कैसे हम आपकी ई रीनबा चुकायेंगे?”

वह जो बोल रहा था, उसकी आंखों में साफ़-साफ़ वही भाव झलक रहा था. सहसा मुझे राज कपूर की फ़िल्म ‘जागते रहो’ का वो आखरी दृश्य याद आ गया जब नरगिस अपने हाथों से राज कपूर को पानी पिला रही थी. उस सीन में पानी पीते-पीते राज कपूर की आंखों से जो भाव टपक रहा था, लगभग वैसा ही भाव गंगा की आंखों में दिख रहा था, पर गंगा इस सबसे बेखबर पानी पीने में मगन था.

गंगा ने पानी पीकर एक और बोतल मांग कर अपने हाथ में ली और बोला, “अच्छा साहब अब मैं जाता हूँ, बचा खुचा काम ख़त्म कर लूँ फिर घर चला जाऊंगा. आज जरा ज़ल्दी जाना है, घर पर भी कुछ काम है,”

अच्छा साहब, “राम राम साहब,” यह कहकर गंगा वहां से निकल पड़ा.

मैंने भी सोचा कि चलो चल कर थोड़ा आराम कर लिया जाये, यह सोच कर मैं भी अपने बेडरूम में बिस्तर पर लेट गया. आंखें बंद कर सोने की चेष्टा करने लगा, पर नींद नहीं आयी. रह-रह कर आंखों के सामने गंगा का वही भोला-भाला मासूम चेहरा घूम जाता और उसकी कही-अनकही बातें याद आने लगतीं. फिर मन में कहीं एक ख्याल यह भी आता कि आखिर गंगा की बातें मुझे क्यों प्रभावित कर जाती हैं, वह तो पढ़ा लिखा भी नहीं था. ठेठ भाषा में कहें तो लोग उसको अनपढ़ और जाहिल कह कर ही पुकारेंगे. शायद उसका भोलापन और निश्चल मन कहीं मेरे अंतर्मन को छू जाता होगा! इसी तरह के विचार मन में आते रहे.

पर कहीं मुझे गंगा से ईर्ष्या तो महसूस नहीं हो रही थी? वह अनपढ़, जाहिल, नंगे बदनवाला इंसान जिसे दो वक्त्र की रोटी भी ठीक से नसीब नहीं थी, वो मुझसे ज़्यादा खुश कैसे रह सकता है? उसे कोई भी टेंशन नहीं था. वह आराम से जब चाहे जैसी भी स्थिति हो सो लेता था. जब कि मुझे, लगभग सभी सुविधाएं उपलब्ध थीं, फिर भी हर वक्त्र कोई ना कोई टेंशन लगा ही रहता था. कभी ठीक से टेंशन फ्री नींद भी तो महीनों से नहीं आयी और यह गंगा फकीर टाइप का आदमी बिना किसी टेंशन के कैसे रह पाता है?

कहीं ना कहीं मेरे मन में यह बात खल रही थी और मुझे किसी महापुरुष की कही ये बातें याद आ रही थीं, “जिसके पास कुछ भी नहीं, उसके पास सब कुछ होता है, और जिसके पास सब कुछ है, उसके पास कुछ भी नहीं होता है?”

मन में इसी तरह के विचार आते-जाते रहे और कब नींद लग गयी यह पता भी नहीं चला.

समय धीरे-धीरे इसी तरह बीतता रहा. बीच-बीच में मैं कभी-कभी गंगा से हैलो, हाय कर लेता. वह भी अपने काम में मगन रहता. दिन दुनिया से बेखबर. फिर वह कुछ दिनों तक लगातार दिखलाई नहीं पड़ा. मैं भी उसको भूलने लगा था, मुझे भी उसकी याद कम ही आती थी.

एक बार जब दिन में पत्नी खाना लगा ही रही थी कि दरवाज़े की घंटी सुनाई पड़ी. कोई बड़ी बेसब्री से बेल

पर बेल बजाये जा रहा था. दरवाज़ा खोला तो देखा गंगा खड़ा है.

मैं थोड़ा अचंभित हुआ और पूछा, “गंगा तुम! अभी इस तपती दुपहरिया में, कब आये? बहुत दिनों बाद दिखलाई पड़े हो? कहां चले गये थे? सब खैरियत तो है? घर पर सब ठीक-ठाक तो है?”

मैंने एक साथ कई सवाल गंगा के ऊपर दाग दिये थे, जिससे वह सकते में आ गया. यह भांप कर मैंने कहा, “अंदर आ जाओ. बाहर बहुत गरमी है.” गंगा अंदर आ गया.

गंगा अंदर आ चुका था, “राम राम मलकिनी”, यह कह कर गंगा वहीं फर्श पर पालथी मार कर बैठ गया.

“साहब देश गये थे, आज ही लौटे हैं.”

मैंने पत्नी से कहा कि इसके कहने का मतलब अपने गांव से है जो इसका नेटिव प्लेस है. मेरी पत्नी ने हामी भरी और अपना सर हिलाकर कहा कि हां, मैं समझ गयी थी.

“साहब असल में बात ई है कि हम बीमार पड़ गये थे, उसी इलाज उलाज के चक्करवा में टाइम लग गया,” गंगा ने कहा.

“हां तो अब ठीक हो ना?”

“डागडर के पास जाते हैं, कोई सुई दे देता है और कुछ गोली, बोला तो है कि खाओ, सब ठीक हो जायेगा. चिनता का कौनों बात नहीं है साहब, सभ्हे ठीक हो जायेगा.” यह कह कर गंगा चुप हो गया.

गंगा का शरीर ऊपर से गंगा था, वह केवल एक धोती लपेटे था और कंधे पर एक मैली सी गमछी लटक रही थी, पर इस सब से बेखबर वह बोला, “साहब एक बात बोलें? साहब, साहब, बुरा मत मानियेगा, अब हमारे दिल में यह बात आ गयी है तो बिना बोले कैसा तो लगेगा?”

“बोलो बोलो, क्या कहना चाहते हो?”

“मलकिनी तो बहुते सुंदर लगती हैं, बिलकुल फिल्म की हिरोइन की तरह. इन्हें देखकर तो ऊ ज़माने की मीना कुमारी, मधुबाला की याद ताज़ा हो गयी. साहब इनको तो आप बुरी नज़र से बचाकर ही रखियेगा. कहीं कभी भी किसी कि नज़र ना लग जाये. अभी इतनी सुंदर दिखती हैं तो राम जाने अपने ज़माने में और कितनी सुंदर रही होंगी. साकछात, लछमी मैईया जैसी दिखती हैं,

मैं रेलगाड़ी में सेकंड क्लास के डिब्बे में बैठा सिगरेट फूक रहा था। अखबार मेरे पास था मगर मैं पढ़ने में रुचि नहीं ले रहा था। मेरे सामने की सीट पर एक सुंदर घुंघराले बालों वाला नौजवान बैठा हुआ था। वह बड़ा उदास और बुझा-बुझा-सा लग रहा था।

“आप शायद दिल्ली जा रहे हैं?” मैंने पहला प्रश्न किया।

“जी हां.” कहकर वह फिर एक ओर देखने लगा। मगर मैं पीछे हटने वाला नहीं था।

“आप दिल्ली में ही रहते हैं?”

“जी नहीं.” कहकर वह चुप हो गया।

“टिकट प्लीज़.” टिकट चेकर को टिकट दिखाकर मैं तीसरा प्रश्न दागने की तैयारी करने लगा, मगर इतनी देर में टिकट चेकर उस तक पहुंच चुका था।

“टिकट प्लीज़.” टिकट चेकर ने नौजवान से पूछा।

“मेरे पास टिकट नहीं है.” वह सपाट स्वर में बोला।

“आपने टिकट तो लिया होगा?” टिकट चेकर बोला।

“मैंने टिकट नहीं लिया है और न ही मैं लेना चाहता हूँ.” वह बोला।

“अरे भाई, आपको टिकट लेना चाहिए था। यह एक अपराध है। आप जानते हैं कि आपको जेल भी हो सकती है। क्या आप जेल जाना चाहते हैं?” टिकट चेकर ने विनम्रता से समझाते हुए कहा।

“जी हां.” वह दहाड़ा। मैं जेल जाना चाहता हूँ। मैं घर नहीं जाना चाहता। उसकी आंखों से अंगारे बरसने लगे और उसका स्वर भर्रा गया।

“मगर क्यों?” टिकट चेकर ने पूछा तो आसपास के लोग भी उसकी ओर देखने लगे थे।

“जेल में दो वक़्त की रोटी तो मिलेगी, करने को काम तो मिलेगा। जेल से अच्छी जगह मेरे लिए कौन-सी हो सकती है?” वह बोला।

टिकट चेकर खामोश था। मैं सिर झुकाये अखबार पढ़ने लगा था, खबर थी। ‘बिरोजगारों के लिए नयी योजनाएं’ — प्रधानमंत्री रोजगार स्कीम।

५०८, सेक्टर-२०, शहरी संपदा, कैथल (हरि.)-१३६०२७

कितना तेज़ है चेहरावा पे, है कि नहीं साहब?”

गंगा मुझसे अपनी कही बातों की पुष्टि करवाना चाहता था, मैंने भी अपना सर हिलाते हुए धीरे से कहा, “हां वो बात तो है गंगा.”

उधर मेरी पत्नी अपनी इतनी तारीफ़ सुनकर मन ही मन शायद लजा रही थी। मेरी ओर देखकर मुस्करा दी। शायद यह कहना चाहती हो कि इतनी तारीफ़ तो मैंने कभी की ही नहीं हो?

मेरी पत्नी ने एकाएक गंगा से पूछा, “गंगा तुम कमीज़ क्यों नहीं पहनते हो?”

“क्या है मलकिनी कि जहां पर हम बैठते हैं, साहब देखिन हैं ऊ जगह, वहां गरमी बहुत लगती है, पसीना जो देह पर रहता है ना, उस पर जब हवा लगती है तो देह को

ठंडक पहुंचती है। इसलिए हम बिना कमीज़ के ही रहते हैं?”

“एक बात बोलें मलकिनी, गांधी बाबा और विनोबा बाबा भी मलकिनी बिना कमीज़े पहिने ज़िंदगी गुज़ार दिये। उनका ही देखा-देखी अभी जो एक रामदेव बाबा हैं, जो हर वक़्त सांसें लेते और फेंकते रहते हैं, वो भी मलकिनी बिना कमीज़े के रहते हैं। मलकिनी जब इतना बड़ बड़ लोगन बिना कमीज़ के रह लिये तो हमें बिना कमीज़ के रहने में कैसा शरम? खुला देह में रहने का अलगे आनंद है,” यह कह कर गंगा चुप हो गया।

गंगा की बातों में तर्क था, मेरी पत्नी ने इतनी लंबी दलील सुन कर चुप ही रह जाना बेहतर समझा।

“अच्छा गंगा तुम्हारा पोता सब बढ़िया से लिख-

पढ़ रहा है ना?” मैंने पूछा।

“ठीके ठाक है साहब, मुनासिपालिटी का इस्कूल में डाल दिये हैं। हम तो ठहरे गंवार आदमी, अब क्या पढ़ता-लिखता है यह तो मुझे समझ में आता है नहीं? क्या है साहब, थोड़ा बहुत पढ़ लिख लेगा, फिर तो यही काम करना है पेट भरने के लिए। वैसे हमार बेटा का बहुत मन था कि अंगरेजी इस्कूल में पढ़ाते, पर हमीं बोले की देख लो अपने पड़ोस के ड्राईवर की हालत, दो-दो लड़का है साहब उसको, दोनों को अंगरेजी इस्कूलवा में डाल दिया है। उसकी मेहरारू भी घर-घर जाकर काम करती है, बता रहा था कि सब मिलाकर आठ-दस हजार कमा लेता है, पर आधा पैसा तो पढ़ाने ही में खरच हो जाता है।”

“एक दिन बोल रहा था कि चच्चा — वो हमको चच्चा ही बोलता है, हम बहुत टेनसन में रहते हैं, ई पढ़ाई में कम्मर टूट गयी। चच्चा, अभी से ई बलड पेरेसर और चीनी का बीमारी हो गया, हम उसको बोले कि तो काहे ना लड़कवन को मुनासिपालिटी का इस्कूल में डाल देते हो; ऊ बोला कि अब क्या कहें चच्चा, ना उगलते बनता है, ना निगलते।”

“अब आप ही बतलाइए साहब जो चीज़ जी का जंजाल बने, वैसन काम करने से क्या फ़ायदा, साहब हम तो कहत हैं कि सब अंगरेजी इस्कूल को बंद कर दो। सब झंझटे खत्म हो जायेगा।”

गंगा थोड़ी देर के लिए चुप हो गया। एक सत्राटा सा छा गया था, पर फिर एकाएक गंगा बोल उठा, “साहब बस एक आखरी बात, एक कहावत याद आ गयी। वैसे आप भी सुनही होंगे, क्या कहते हैं कि, ‘अंगरेज़ चले गये और औलाद छोड़ गये,’ हम सभी बस वही औलाद हैं।”

गंगा की बातों में बहुत दम था, मन में कहीं यह विचार आया कि यह बिना पढ़ा-लिखा आदमी इतनी साफ़ बातें कैसे सोचता है और कहता है। फिर भी मैंने कहा कि, “गंगा, सरकार तो तुम लोगों को बहुत फ़ैसिलिटी दिये हैं। रिजर्वेशन है, बढ़िया से पढ़ाओ, पढ़-लिख लेगा तो बड़ा साहब बन जायेगा।”

“साहब क्या है कि ई रिजर्वेशनवा उन लोगन के लिए है जिनके घर से पहले ही कोई ना कोई सरकारी पद,

ओहदा पा गया है, उन लोगन को फ़ैसिलिटी है। वे अपने लड़कन को अंग्रेज़ी इस्कूल में डाल दिये हैं। अब जो इन अंग्रेज़ी इस्कूल से पढ़ कर निकलता है ना साहब, वही कामपिटीसन में कॉम्पिट करता है। सरकार को चाहिए कि एक बार जिसका फ़ैमिली में कौनों कॉम्पिट कर गया उसके बाद ऊ फ़ैमिली में ई फ़ैसिलिटी बंद कर दे। इससे यह फ़ायदा होगा साहब कि औरों फ़ैमिली में लोगन के लड़कन को सरकारी नौकरी में घुसने का मौका मिलेगा।”

गंगा की बातों से साफ़-साफ़ सरकार के विरुद्ध उसका आक्रोश दिखलायी पड़ रहा था। बोला, “साहब आपको मौका मिले तो सरकार तक मेरी बात पहुंचाइयेगा ज़रूर।”

मैंने हामी में अपना सर हिला दिया, मन में सोचा कि सरकार को क्या यह सब पता नहीं है? फिर भी...

“मलकिनी, थोड़ा पानी मिल जाता तो हम सत्तू घोलकर पी लेते, क्या है कि आज हम ज़ल्दी में घर से निकल पड़े। रोटी भी ले नहीं सके,” यह कह कर गंगा चुप हो गया।

“ठहरो गंगा, मैं अभी पानी लाती हूँ।” मेरी पत्नी किचेन में गयी और थोड़ी देर बाद एक पैकेट और एक बोतल पानी लाकर गंगा के हाथों में देते हुए बोली, “गंगा यह थोड़ा खाना है, खा लेना।”

“मलकिनी, आप काहे को तकलीफ़ किये? अरे हम लोगन तो सत्तू पी लिये बस समझो कि पूरा खाना हो गया। फिर भी आप दे रही हैं तो ई हम कैसे इनकार कर सकते हैं।”

गंगा ने चुपचाप खाने का पैकेट और बोतल ले ली और बोला, “मलकिनी ई दिन हम सारी ज़िंदगी में ना भूलेंगे। साहब तो अच्छे हैं ही, पर आप तो बहुत ही अच्छी हो, साहबो से भी अच्छी।”

शायद यह गंगा का उस पैकेट के लिए कम्प्लीमेंट था। क्या पता कि वो दिल से सच्ची बात कह गया हो, मेरी पत्नी की आंखें नम हो गयी थीं। गंगा के ये उदगार सुनकर, पर उसने बड़ी आसानी से सब छुपा लिया।

“अच्छा मलकिनी राम-राम, अच्छा साहब राम-राम, अब हम चलते हैं,” यह कह कर गंगा वहां से बाहर जाने को निकल पड़ा।

“ठीक है गंगा, फिर आना, तुम्हारे आने से अच्छा

लगता है.

मेरी पत्नी ने भी ज़ोर देकर कहा, “राम-राम गंगा फिर आना. बहुते मन लगा तुमसे बातें करके,” मेरी पत्नी गंगा के ही कहने के अंदाज़ में बोली.

गंगा चला गया. हम लोग भी खाना खाकर थोड़ी देर उसी के बारे में बातें करने लगे. आज गंगा बातों-बातों में ढेर सारी बातें कह गया था. मैं उसी को लेकर मनन और चिंतन कर रहा था.

मैं रोज़ ही उधर मोड़ से गुज़रता था, पर गंगा दिखलाई नहीं पड़ता. एक दिन मैंने कौतुलहल वश आसपास की दुकान वालों से पूछा, “इस कोने पर गंगा नाम का एक आदमी बैठता था वह आज कल दिखलाई नहीं पड़ता है. आपको उसके बारे में तो जानकारी होगी?”

“कौन गंगा? यहां पर तो कोई गंगा नहीं बैठता है, हम तो किसी गंगा-उंगा को नहीं जानते. हां पर एक मोचिया बैठता था, पर आज कल साला नज़र नहीं आता है, ज़माना से गायब है. क्या बात है साहब, कोई जूता, चप्पल टूट गया है तो उधर ऊ मोड़ पर चले जाइए. वहां पर भी एक मोचिया बैठता है. आपका काम हो जायेगा. मैं हैरान था उस दुकान वाले की बातें सुनकर. क्या इस तरह से भी कोई किसी के बारे में सोच और बोल भी सकता है. क्या गंगा इंसान नहीं था? क्या गंगा केवल एक मोची था और कुछ नहीं? पर इन्हें क्या मालूम कि गंगा एक संत था. उनके लिए तो जो केसरिया रंग के वस्त्र और माथे पर लंबा लाल तिलक लगा लिया वही संत और महापुरुष हो गया. फटा चीटा, नंगे बदन रहनेवाला गंगा तो एक मोचिया के अलावा कुछ भी तो नहीं था.

फिर भी अपनी तसल्ली के लिए मैंने दोबारा दूसरे दुकान वाले से पूछा, “भाई सा’ब यहां एक मोची बैठता था, अगर आपको उसके बारे में कोई जानकारी हो तो कृपया मुझे बताने का कष्ट करें.”

उस दुकान वाले ने कहा, “हां, हां एक मोची तो बैठता था, पर उसने तो बहुत दिनों से आना-जाना छोड़ दिया है.”

“पर अभी तो थोड़े दिन पहले वह मेरे घर पर आया था.” मैंने कहा.

“साहब हमें तो नहीं पता, हम तो महीनों से उस मोची को नहीं देखे हैं.” दुकान वाले ने कहा.

मेरा मन भारी हो रहा था, वैसे भी गंगा जैसे लोगों से इस सभ्य सोसायटी को क्या फ़र्क पड़ता है? गंगा जैसे कितने लोग कब आते हैं और कब चले जाते हैं, किसी को कोई फ़र्क नहीं पड़ता? मन में कई विचार आ-जा रहे थे, अगर गंगा उस रोज़ नहीं आया तो उस दिन हमारे घर पर वह कौन था? क्या वह गंगा नहीं था, तो फिर क्या वह उसकी आत्मा थी?

दूर नेपथ्य में कहीं स्पीकर पर एक आवाज़ गूँज रही थी, “गंगा आये कहां से, गंगा जाये कहां रे.”

अरे यह क्या फालतू विचार मेरे मन में आ रहे थे, मैंने अपने आपको समझाया — नहीं, नहीं वह गंगा ही था, इतनी देर तक उस दिन हमसे बातें हुईं, वह ज़रूर गंगा ही था. हो सकता है इन लोगों को दिखलाई नहीं पड़ा हो? या, तुरंत मेरे घर से निकल के चला गया हो? यहां बैठा ही नहीं हो?

पर मुझे क्या पता था कि उस दिन अंतिम मुलाकात थी गंगा के साथ. गंगा आख़री बार हमारे पास आया था. उस दिन के बाद गंगा फिर कभी नहीं दिखा. पता नहीं क्या हुआ गंगा का? मेरे पास तो उसका पता ठिकाना भी नहीं था कि उसकी खोज खबर भी लेता.

गंगा की याद कभी मिटी नहीं. उसका वह भोला मन, निश्चल मन और बात करने का अपना अलग अंदाज़ भुलाये नहीं भूलता.

आज भी हम इस आस में हैं कि किसी दिन अचानक कहीं से गंगा टपक जायेगा और फिर वही चिर-परिचित मुस्कान के साथ वह जानी पहचानी सी मीठी आवाज़ गूँजेगी.

“राम-राम साहब, हम गंगा, हम गंगा?”

☎ २०१/एफ-१, क्रिस्टल एपार्टमेंट,
सुंदरवन कॉम्प्लेक्स, लोखंडवाला,
अंधेरी (प.), मुंबई ४०००५३
मो. ९९३०१०७००२

निवेदन

इस अंक के साथ जिन ग्राहकों का शुल्क समाप्त हो रहा है उनसे निवेदन है कि शीघ्र ही अपने ग्राहक शुल्क का नवीनीकरण करा लें.

-संपादक

छोटे लोग, बड़े लोग

सुमन सारस्वत

बरसात की वजह से लोकल ट्रेन १५ मिनट देरी से चल रही थी. अंधेरी स्टेशन के प्लेटफॉर्म पर खड़े-खड़े आधा घंटा बीत चुका था मगर चर्चगेट जानेवाली ट्रेन अभी तक आयी नहीं थी. यात्रियों के चेहरों पर परेशानी के भाव बढ़ते जा रहे थे. नैना की भी बेचैनी बढ़ती जा रही थी. आज से उसकी दोपहर की शिफ्ट थी. और पहले ही दिन उसे लेट हो जायेगा. पर वह कर क्या सकती थी? तब तक ट्रेन की आहट सुनायी दी. प्लेटफॉर्म पर हलचल बढ़ गयी. ट्रेन के रुकने से पहले ही कुछ पुरुष यात्री फुर्ती से चढ़ गये. लेडीज़ पैसेंजर भी कम नहीं थीं. धक्का-मुक्की चालू हो गयी. नैना ने भी पूरी हिम्मत जुटायी ट्रेन में सवार होने की. ऐसी अफ़रा-तफ़री मची हुई थी जैसे कि यह दुनिया की आखिरी ट्रेन हो. जितने उतरने वाले उससे कई गुना चढ़ने वाले.

‘थैंक गॉड...’ नैना ने राहत की लंबी सांस ली. आखिरकार वह भी चढ़ ही गयी. कंपार्टमेंट में इतनी भीड़ थी... इतनी भीड़ थी कि जैसे किसी ने गेहूँ के बोरे को टूस-टूस कर भर दिया हो. नैना हिल-डुल नहीं सकती थी. कमोबेस सभी औरतों का यही हाल था. सब एक-दूसरे पर खीज रही थीं.

इसी बीच ट्रेन में सामान बेचनेवाले बच्चे, औरतें भी यात्रियों को लांघ-लांघ कर अपना धंधा करने में लगे थे. उनकी आवा-जाही से औरतों का गुस्सा बढ़ जाता. कुछ भुनभुनाने लगतीं, मगर जो तेज़-तर्रार होतीं वो उनको अपने पास से जाने नहीं देतीं. पूरे डिब्बे में चिल्ल-पों मची हुई थी. थोड़ी देर पहली सीट पर कुछ बहस हुई थी. बीच वाले हिस्से में भी तू-तड़ाक मची हुई थी. ऐसा लग रहा था कि आज सारी औरतें झगड़े के मूड में हैं. सबके अंदर चिनगारी धधक रही थी, बस छेड़ने भर की देर थी. दो-तीन स्टेशन गुजर गये. बांद्रा स्टेशन पर भीड़ कुछ कम हुई. मगर डिब्बा अब भी ठंसा हुआ था. नैना को गेट की दीवार का सहारा मिल गया. थोड़ा आराम मिला उसे. शरीर को आराम मिला तो दिमाग दौड़ने लगा. आज

अगर शोयर टैक्सी ज़ल्दी से मिल जाये तो वह टाईम से ऑफिस पहुंच ही जायेगी. “भगवान प्लीज़.... प्लीज़... आज टाईम से ज़ल्दी पहुंचा दो.” वह भगवान से मिन्नतें करने लगी. जैसे भगवान उसके लिए कूल कैब लेकर आ जायेंगे और भरे ट्रैफिक में उसे उड़ा कर ऑफिस पहुंचा देंगे. अगले ही पल उसके दिमाग ने उसे टोका ‘मांगना है तो कुछ और मांग, मूर्ख कुछ अच्छा मांग, कुछ बड़ा मांग ... जैसे....जैसे... तुझे ऑफिस जाना ही न पड़े ... या फिर जिस ऑफिस में तू काम करती है उसी की मालकिन बन जाये...’ उसका दिमाग खुराफात पर उतर आया. नैना की आंखों में अपनी मालकिन की तस्वीर घूम गयी. अपनी मालकिन की वह तो फ़ैन है. एक ही बार उसने अपनी मालकिन को देखा था—क्या दिखती है! क्या लगती है! एकदम सॉफिस्टिकेटेड, एलीगेंट....! नैना मन ही मन अपनी मालकिन की तारीफ़ करने लगी. कंपनी की मैनेजिंग डायरेक्टर हैं वो. पूरी कंपनी पर उन्हीं का होल्ड है. इतना बड़ा बिजनेस एंपायर है. कई बार तो वह बिजनेस न्यूज़ चैनल पर भी दिखती हैं.

उनके हसबैंड भी बिजनेस टायकून हैं. कई शहरों में उनके फाईव स्टार होटेल्स हैं. नैना को गर्व होता है कि वह इतने बड़े ग्रुप में काम करती है. कभी-कभी तो वह अपनी मैडम की स्टाइल की कॉपी करने लगती है. मैडम का ध्यान आते ही वह उन्हीं की मुद्रा में तन कर खड़ी हो गयी. तभी उसके सिर से कुछ टकराया.

वह खीज उठी. ‘कुत्री.....खड़ी भी नहीं होने देती.’ मन ही मन उसने कोसा. तभी उसे ध्यान आया कि उसने “कुत्री” गाली दी. नैना को गालियों से चिढ़ है. फिर भी कभी-कभी खीज में या गुस्से की अधिकता में उसके मन में गालियां आ ही जाती हैं. नैना ने प्रायश्चित्त स्वरूप दांतों तले अपनी जीभ दबा ली. उसने देखा बाजू में एक औरत सिर पर गट्टर लादे खड़ी थी उसी का धक्का लगा था उसे. नैना ने आंखें तरेरते हुए उसे डपटा, ‘क्या रे, पत्थर भरेली है क्या?’

सम. स. बी. कॉम.

रेडियो, दूरदर्शन और पत्र-पत्रिकाओं के लिए लिखते-लिखते पत्रकारिता में डिप्लोमा कर आपने जनसत्ता (मुंबई) में उपसंपादक की नौकरी की. २००२ में जनसत्ता का मुंबई संस्करण जब बंद हुआ तो स्वेच्छा सेवानिवृत्ति के बाद से रचनात्मक लेखन के साथ-साथ हिंदी साप्ताहिक 'वाग्धाटा' का संपादन एवं प्रबंधन कर रही हैं.

'मादा,' 'तुम लौट आना साटा,' 'सौभाग्यवती,' 'डेंट टेल टू आंद्रे,' 'दुनिया की सबसे खूबसूरत औरत' आपकी कुछ चर्चित कहानियां हैं. कहानी 'बालू घड़ी' को सर्वश्रेष्ठ पुरस्कार मिला.



सुमन सारस्वत

'नई रे मैडम, ड्रेस पीस है...' उस औरत ने सफ़ाई दी. ड्रेस पीस का नाम सुनते ही नैना खुद को रोक नहीं पायी— 'दिखा तो कैसा है? लेटेस्ट फ़ैशन का है क्या?'

'है ना... बोट मस्त-मस्त ड्रेस है...' वह बाई बोली और अपना गड्ढर खोलने के लिए जगह बनाने लगी. तब तक ट्रेन प्लेटफॉर्म पर लग चुकी थी. दादर स्टेशन था. आधा डिब्बा खाली हो गया. वह बाई नैना को एक के बाद एक ड्रेस मटेरियल दिखाने लगी. दो-तीन और महिलाएं भी उसका माल देखने लगीं.

तब तक डिब्बे के बीच से एक और बाई आ धमकी वह भी ड्रेस बेच रही थी. दूसरी बाई ने जब इस बाई को अपना पसारा फैलाये देखा तो वह आग-बबूला हो गयी.

'ए क्या रे ... ये मेरी गाड़ी है तू काय को आयी...?' दूसरी बाई भड़क उठी.

'मैं तो बस उतरने ही वाली थी. मैडम ने दिखाने को बोला करके मैं दिखायी.' इस बाई ने सफ़ाई दी.

मगर दूसरी कुछ भी सुनने को तैयार नहीं थी. उसने कुतर्क किया - 'कोई कुछ भी दिखाने को बोलेगा तो तू दिखा देगी!'

'देख जास्ती बोलने का नई. घिराक सामने से (ग्राहक) बोलेगा तो मैं माल नहीं दिखाऊं?'

पहली वाली अकड़कर बोली?

'मेरे को मालूम है बड़ी आयी हल कट... कुत्री.' दूसरी की जबान से गाली फिसली.

पहली वाली बिफर पड़ी, 'ए गांडी, जो मने गाली नई आपती.' वह गुजराती में बोली.

'तू शू करी ले से? लुच्ची... कमीनी...' दूसरी

वाली ने दो गाली और दाग दीं.

'तू लुच्ची, कमीनी, तेरी मां लुच्ची, तेरा अक्खा खानदान....' पहली वाली कहां चुप बैठने वाली थी. उसने गालियों का ब्रह्मास्त्र निकाला — मां की गाली दी. वही गाली जो आदमी लोग बात-बात में एक दूसरे को देते रहते हैं.

उन दोनों का गालियों का महायुद्ध शुरू हो चुका था. नैना थोड़ी सहम गयी. कानों से उनकी गालियां सुन-सुनकर उसका मुंह कसैला हो रहा था. उसका जी चाहा कि वह दोनों को चांटा मारकर उनका मुंह बंद कर दे. जैसा उसकी मां ने एक बार उसके साथ किया था. नैना तब दस-बारह साल की थी. उसकी चाल में रहने वाली दो पड़ोसिनों में बच्चों के पीछे झगड़ा हुआ. उलाहने से बात गाली-गलौज तक पहुंच गयी. दोनों औरतें एक दूसरे को पक्की-पक्की गालियां देने लगीं. नैना ने पहली बार इतने करीब से गालियां सुनी थीं. तभी मां ने नैना को खींचकर कमरे के अंदर करके दरवाजा बंद कर दिया. बाल-सुलभ जिज्ञासावश नैना ने उन गालियों को दोहराया और मां से अर्थ पूछा. तभी ताबड़-तोड़ दो झनाटेदार तमाचे उसके गाल पर पड़े. मां ने दांत पीसते हुए कहा— 'आइंदा ये शब्द तुम्हारे मुंह से निकलने नहीं चाहिए, वरना जीभ काटकर रख दूंगी.' तब से आज तक नैना के मुंह से कभी कोई गाली नहीं निकली. यहां तक कि कोई गाली दे रहा हो तो -- जी करता है कि वह उसकी जबान खींच ले.

बाद में मां ने पुचकार कर नैना को समझाया था — गाली देना पाप है. गंदे लोग गाली बकते हैं. नीच बुद्धि

के लोग गाली देते हैं. बड़े लोग, अच्छे लोग गाली नहीं देते. ...औरतें तो कभी नहीं तू तो मेरी रानी बेटी है ना....' मां ने प्यार से नैना को सीने से लगा लिया.

‘चल बोल-राम-राम.’

नैना भी बुदबुदायी—‘राम-राम’. अनजाने में जबान से निकली गाली का प्रायश्चित इस तरह करवाना था मां ने. ‘काश! इनको भी इनकी मांओं ने थप्पड़ मारा होता तो आज इनकी जुबान ऐसी नहीं होती. ट्रेन में खड़ी-खड़ी नैना आदतन राम-राम बुदबुदाने लगी.

लेकिन नैना के राम-राम बुदबुदाने से क्या होता?

इधर दोनों औरतें जबान-दराजी छोड़कर एक दूसरे से गुत्थम-गुत्था हो चुकी थीं. जैसे दो जंगली बिल्लियां गुर्रा-गुर्राकर एक दूसरे को नोंच रही हों. अब बात बिगड़ रही थी. महिला यात्रियों को अच्छा नहीं लग रहा था.

कुछ महिलाओं ने उनको डांटा भी पर वे दोनों कहां रुकने वाली थीं. गेट के पास खड़ी महिलाएं बीच-बचाव करने लगीं.

‘ये न, झोपड़पट्टी की बाईं लोग ऐसीइच होती हैं. ये लोग इज्जत से रहना जानती ही नहीं...’ एक महिला ने टिप्पणी की.

‘....देखा कैसे अपनी ही जात को गाली दे रही हैं दोनों...’ कहीं से आवाज़ आयी.

‘इनको शरम नहीं आती गाली बकते हुए? बड़े घर की औरतें कभी ऐसा नहीं करतीं. कौन इनके मुंह लगे...’ एक दूसरी महिला ने मुंह बिचका कर कहा.

अब ट्रेन रुकी. यह मुंबई सेंट्रल था. रेल्वे पुलिस फोर्स की दो महिला पुलिस डिब्बे में चढ़ीं. जैसे उनको गाड़ी रुकने से पहले ही भनक लग गयी थी. दोनों ने उन बाइयों को पकड़ा, उनके गड्ढर को प्लेटफॉर्म पर धक्का देकर गिरा दिया. दोनों बाइयों अपना नुकसान होते देख गिड़गिड़ायीं — ‘मैडम प्लीज़ नुकसान हो जायेगा, मैडम....’ मगर वो दोनों लेडी पुलिस कहां पिघलने वाली थीं. उन्होंने अपने मर्दाने पंजों से दोनों को पीछे से गले को दबोचा और ट्रेन से बाहर ठेलते हुए गालियों की बौछार कर दी — ‘खाली उतर...भोसड़ी की’ उन पुलिसवालिओं को गाली बकते देख पूरा डिब्बा सन्न!

नैना सकपका गयी. उनके सबसे करीब वही खड़ी थी.

‘बाप रे ! ...’ मन ही मन वह इतना ही बोल पायी. उसका मन खराब हो चुका था और दिमाग परेशान. इस सबको भुलाकर नैना ने अपने को शांत करने की कोशिश की क्योंकि ऑफिस पहुंचकर उसे काफी काम करना था. उसका स्टेशन ग्रांट रोड आ चुका था. स्टेशन से बाहर निकलकर उसने ऑफिस के लिए टैक्सी ली.

कूल कैब में बैठते ही दिमाग भी ठंडा हो गया. उसका मन भी कमल की तरह तरो-ताजा हो गया. माहौल बदलते ही मन भी चहक उठा. दूर से ही उसे अपने ऑफिस की बिल्डिंग दिखायी देने लगी.

कितनी ऊंची बिल्डिंग, अंदर से उतनी ही भव्य. कई मल्टीनेशनल कंपनियों के कॉर्पोरेट ऑफिस उसकी बिल्डिंग में हैं. यहां का स्टाफ कितना सभ्य और सलीकेदार. ऊपर से नीचे तक सारे कर्मचारी पेशेवर और अनुशासित हैं. स्वीपर से लेकर मैनेजर तक सबका बिहैवियर समय-समय पर अपडेट किया जाता है.

बिल्डिंग के अंदर दाखिल होते ही नैना सुकून से भर उठी कि चलो उस गलीज माहौल से छुटकारा मिला. उसका ऑफिस उन्नीसवें फ्लोर पर था. वह लिफ्ट की ओर बढ़ी.

दोपहर के दो बज चुके थे. पूरा प्रिमाइसेस लगभग खाली था. लिफ्ट के पास उसे दो महिला आकृतियां दिखीं. नैना ने दूर से ही पहचान लिया. उनमें एक उसकी मालकिन थीं और दूसरी भी जानी-पहचानी ही लग रही थीं. हां, याद आया वे थीं मिसेज भानुशाली. उन्हें पेज थ्री में कई बार देख चुकी है. इनके रिटेल शॉप की चेन पूरे देश में है.तो आज दो बड़ी हस्तियों के दर्शन एक साथ हो गये नैना को. बड़ी मुश्किल से ऐसी शिखर्यत को रूबरू देखने का मौका मिलता है. नैना धन्य हुई जा रही थी.

नैना ने नज़रें बचाकर उन दोनों का दीदार करना चाहा. मगर ये क्या? दोनों के तेवर बड़े खूंखार नज़र आ रहे थे. जैसे आंखों ही आंखों में दोनों एक-दूसरे को निगल जायेंगी. उनकी बातें सुनने के लिए नैना उनसे एक दूरी बनाकर इस तरह खड़ी हो गयी कि जैसे लिफ्ट का इंतज़ार कर रही हो. मगर उसकी समस्त इंद्रियां जागृत होकर उसके दायें भाग में अवस्थित हो गयीं जिस तरफ़ दोनों मैडम झगड़े पर उतारू थीं.

“हाऊ डेयर यू टू कम ओवर हियर?” यह उसकी

गजलें

✍ मनाज़िर हसन 'शाहीन'

आग नफ़रत की बुझाने का हुनर जानते हैं,
दिल को हम, दिल से मिलाने का हुनर जानते हैं।
दोस्तो! राह के कांटों से हमें क्या लेना,
हम तो बस फूल खिलाने का हुनर जानते हैं।
आज भी दिल में चिरागों को सजा रखा है,
रोशनी हम भी लुटाने का हुनर जानते हैं।
गुफ्तगू होती है आंखों से ज़बां-बंदी में,
साहिबो! हम भी ज़माने का हुनर जानते हैं।
उन को गद, आंख चुटाने की अदा आती है,
हम भी हर दिल में समाने का हुनर जानते हैं।
संग को मोम बनाना भी हमें आता है,
दूब पत्थर पे उगाने का हुनर जानते हैं।

तबाह कोई हो, हम दिल का चैन खोते हैं,
ये हादसात भी कितने अजीब होते हैं।
तमाम रात हमें रोशनी लुटाना है,
कहीं चिराग भी ताचीकियों में स्रोते हैं।
यहां क्याभते-सुगारा गुजर गयी लेकिन,
अजीब हाल है हंसते हैं हम, न रोते हैं।
ज़माना-साज़ो! हमें और कुछ नहीं आता,
फ़क़त दिलों में 'मुहब्बत के बीज' बोते हैं।
ख़रीद सकते नहीं नींद लंबी रातों की,
ये पैसे वाले भी कितने गरीब होते हैं।
हमारा गांव उजालों का एक मंचा है,
हम अपने खेतों में 'शाही' चिराग बोते हैं।

✍ मिडिल स्कूल लक्ष्मीपुर, वाया : चाकंद, ज़िला : गया-८०४४०४

मालकिन की आवाज़ थी.

“आई एम वार्निंग यू...मेरे हसबैंड का पीछा छोड़ दो.” मिसेज़ भानुशाली गुर्गयी.

“मुझे कोई शौक नहीं है टू गेट बिहाइंड योर हसबैंड. वही मेरे पीछे आता है. ऐसा है तो बांध के रख ना अपने पल्लू में.” मालकिन ने चिढ़कर कहा.

“डू नॉट टीच मी वॉट आई शुड डू. इतनी ही गर्मी चढ़ी है तो बुला ले ना अपने पति को दुबई से. वो तो तुझे छोड़ के वहां बैठा है.” मिसेज़ भानुशाली ने वार किया.

“हे माइंड योर टंग! जैसे मैं नहीं जानती कि तेरा पति तेरी कितनी पूजा करता है? आई नो विद हू म यू हैड स्लेप्ट.” मालकिन ने मिसेज़ भानुशाली की पोल खोल दी.

“और तू तो जैसे किसी के साथ सोयी ही नहीं. यू आर सच ए बिच!” मिसेज़ भानुशाली बिफर पड़ी.

“यू आर ए बिच! तुझे तो रोज़ एक नया मर्द चाहिए. रंडी कहीं की!” मालकिन गुर्गयी.

‘रंडी’ शब्द सुनते ही मिसेज़ भानुशाली आपा खो बैठी. गुस्से के मारे उसके मुंह से बिल्ली की तरह घरघराने

की आवाज़ निकलने लगी - ‘तू रंडी, छिनाल कहीं की...’

अब तो दोनों बिल्लियों की तरह पंजे बढ़ा-बढ़ाकर एक दूसरे को नोंचने लगीं.

कॉरीडोर में इस बीच पांच-छह लोग और आ चुके थे मगर किसी में इतनी हिम्मत नहीं थी कि इन बिल्लियों को रोके. आखिर चूहा भला बिल्ली के गले में घंटी बांधने का दुस्साहस कर सकता है?

... और नैना फिर सकते में थी. उसकी सोच को दो झन्नाटेदार थप्पड़ लगे कि बड़े घर की औरतें अपनी जबान पर गाली नहीं लातीं.

‘रंडी. ...छिनाल’ ये वही गाली थी जिसके लिए उसकी मां ने उसे थप्पड़ मारे थे. नैना सोच रही थी — ‘काश! उनकी मां भी मेरी मां जैसी होती!’

✍ ए-५०४, किंगस्टन, हाई स्ट्रीट,
हीरानंदानी गार्डन्स, पवई,
मुंबई-४०००७६.
फ़ोन : ९८६९२६०१६३

मां, तूम कहाँ हो!

अमर स्नेह

त्रिवेणी तट लोगों से अटा पड़ा है. मानवीय सैलाब थमने का नाम ही नहीं लेता. जहां तक दृष्टि जाती है छाजन, गुमटियां, तंबू, पंडाल, लहराते झंडे-झंडियां, धर्म पताकाएं. हर तरफ धर्माचारी, भांग, चरस, सुलफे में लीन. कहीं भी पैर रखने तक की जगह नहीं. दानी-धर्मी, निरकारी, सेठ-साहूकार, भिखारी, योगी, नागा, साधु-संन्यासी, गृहस्थ, फक्कड़, बाल-वृद्ध, नर-नारी की आवाजाही, रेलमपेल. स्नान-ध्यान, कीर्तन-आरती, हवन-यज्ञ, प्रवचन-भंडारे, घंटे-घड़ियाल, झांझ-मंजीरे, धौंसे-डफ-डमरू-ढोल, बिगुल-शंख-करतालों की ध्वनि, जयकार करता जनसमूह और नदी का कोलाहल. कुल मिलाकर इतना शोर कि अपनी भी आवाज सुनाई नहीं देती. ऐसे में एक बूढ़ी औरत भीड़ के बीच एक टीले पर खड़ी दूर तक पास से गुजरते एक-एक चेहरे को गौर से देखती है और निराश होकर पुकारना शुरू कर देती है. जब वह थक जाती है तो वहीं बैठ जाती है और फिर वही क्रम दोहराने लगती है. उसे देख कर लगता है जैसे बांस के बीहड़ जंगल में कोई पक्षी फंसकर चीख-चिल्ला रहा हो. मैं उसे काफी दूर से देखता आ रहा था. एक क्षण रुका तो भीड़ का ऐसा रेला आया कि मैंने कुछ देर बाद खुद को एक घाट पर पाया.

क़रीब दो घंटे बाद जब मैं फिर उधर लौटा तो उस बूढ़ी को उसी तरह पुकारते देखा. वह बहुत थकी हुई लग रही थी. कभी-कभी वह रो भी पड़ती थी. मैं जैसे-तैसे भीड़ में से उस टीले तक पहुंचा. दो-तीन बार 'मां' के संबोधन के बाद वह जान छोड़कर मेरी तरफ लपकी और गिरते-गिरते बची. मैंने उसे संभाल लिया. उसने दोनों हाथों में मेरा चेहरा लेकर गौर से देखा, शायद उसे कम नज़र आता था, "बेटा हम पहिचाना नहीं...कौन है तू?"

उसने प्यार की जिस शिद्दत से दोनों हाथों में मेरा चेहरा लिया हुआ था उससे लगा कि वह मेरी ही मां है, "मां मुझे अपना ही बेटा समझ... क्या कोई खो गया है?"

"हां, हां कल सुबह मेरा बेटा और बहू मुझे यहां बिठाकर मंदिर गये थे. उन्होंने मुझसे कहा, अम्मां तू इहां बैठ. काहे कि भीड़-भड़क्का है, हम लोग मंदिर दरसन करके आते हैं..... फिर वो लोग दुबारा आये ही नहीं."

"खैर मां वो मिल जायेंगे." - मैंने तसल्ली देते हुए उसे अपनी बोतल से पानी दिया तो उसने कुछ घूंट पानी पिया. थर्मस से चाय देने लगा तो संकोच करने लगी लेकिन मेरे आग्रह पर उसने चाय ले ली और मेरे सिर पर हाथ फेरते हुए ढेरों आशीर्वाद दिये. कुछ देर रुक कर सिसकने लगी. इसी बीच किसी संत-महात्मा की सवारी आ गयी. बड़ी मुश्किल से मैं उस बूढ़ी मां को भीड़ से बचाते-बचाते दूसरी तरफ निकाल लाया और एक मंदिर के पास बिठाया. सर्दी ज्यादा थी. मैंने बैग से शाल निकालकर उसे उढ़ाया तो वह बिलखकर रो पड़ी. संयत होते हुए शाल उतारकर वापिस देने लगी, "न बेटा तोहके सर्दी पकड़ लेई..... मां तो सब सह जात है..... सूखा में ओके सुलाया, गीला में खुद सोयी, का-का नहीं किया उसकी खातिर....."

मैंने उसे तसल्ली दी, "तू चिंता न कर मां. मैं कैसे भी उन्हें ढूंढ निकालूंगा. हां, क्या नाम है बेटे का?"

"सरवन कुमार (श्रवण कुमार). हम जानित हैं बेटा, ऊ न मिली फिर भी मां के ममता हार जात है आंख ढूंढे लागत है, मन नहीं मानत. मन के झुठला के ममता पुकारे लागत है. हां बेटा ओ लोग मां के छोड़ के चले गये. कल बहू गंगा नहाय ले गयी रही, खुद सांखल पकड़ के हमका आगे ढकेले लागी तभी एक लड़का हाथ पकड़ लिहिस और हमका सम्हाल के बाहर ले आया.... हमार सरवन पहिले ऐसा नहीं रहा. उनीवस्ती (यूनिवर्सिटी) मां पढ़ता रहा, जब्बै कभी गांव आता तो हमारी गोद में सर रखके कहता, "मां भगवान अगर कहे कि तोहके पूरी दुनिया के दौलत देबे तू मां के छोड़ दे तो हम भगवान से कहबे कि का तू हमका मूरख समझे है? मां के गोद में सुरग (स्वर्ग) बसता है, मां की ममता के आगे पूरी दुनिया की दौलत मिट्टी है, और आज.... हमका छोड़ के चला गया.

बेटा यहां आये से चार-पांच रोज पहले आधी रात के हमरे सोते में बहूरानी सरकारी स्टाम कागज़ (स्टैंप पेपर) में आहिस्ता से हमारे अंगूठा में स्याही लगाके, कागद पे अंगूठा लगा लिया — जब हम जागी तो भाग के बाहर निकल गयी. हम अपनी आंख से देखा सरवन बाहर खिड़की के पास खड़ा रहाय और फिर दोनों जल्दी से अपना कमरा में चले गये. तोहरे बाबूजी को चार महीना हुआ सुवर्गवासी हुए. बीमार रहे..... ऐ लोग हम दोनों के गांव से लाके बाहर के बंगला के एक कमरा में डाल दिये हम दोनों परानी के. हम जब भी कहें, “बाबूजी के अस्पताल ले चलो, तो बहूरानी कहती कि का अस्पताल ले जाये से ओ जवान हुई जइहें. बुढ़ापा में तो बिमारी-इमारी लगी ही रहती है औऊर फिन (फिर) रोज-रोज अस्पताल के चक्कर काटे का टाइम कहां है? ई सब देख-सुन के बाबूजी हमसे कहे कि बड़की जाय दे, हम समझ लिया कि इनके इच्छा का बा? बिना डाक्टर-दवा के बाबूजी चले गये..... बेटा, दो सौ बीघा ज़मीन रहाय. बाबू जी पचास बीघा बेच के सहर मा इनकी खातिर बंगला बनवा के दिये, मोटरगाड़ी ले के दिये. इतना ज़मीन जायदाद ... छह दुकान, एक आम के बाग छोड़ के चले गये बाबू जी..... अरे सब इन्हीं का तो रहा, मैं का छाती पर ले जाती? मां की ऐके साध रहती कि बेटा सामने हो जब प्राण जाये.”

उसकी कहानी सुन के मैं पूरी तरह से अंदर से हिल गया था. मैंने उसका पता जानना चाहा तो वह शून्य दृष्टि से आसमान निहारने लगी फिर आहिस्ता से बोली, “हमरा पता? बेटा अब यहीं है. यहीं बाकी ज़िंदगी लेकिन जी के का करब? के के (किसके लिए) खातिर जियब?”

मैंने संयत होते हुए बूढ़ी मां से कहा, “मां उन्होंने यह अच्छा नहीं किया. तू उन्हें क्षमा कर दे. चल, मैं समझूंगा कि मेरी मां फिर से मुझे मिल गयी है.” वह काफी देर तक मौन रही फिर आंसू पल्लू में समेटकर मुझे गले से लगा लिया. अपना पल्लू मेरे सिर पर रखकर बोली, “बेटा प्यार का बीजा (बीज) तुरंतै फर (फल) जात हैय तू मां के प्यार दिये तो हमरी छाती मा मां के ममता के बिरबा उगके फर फूल गया. इ दुखिया के सारा दुख ऐके छन मा सुख बनाये दिये तू.....जुग-जुग जियो बेटा. तू हमका, अपनी मां के, बेटा के सारे सुख दे दिये.”

मैंने उससे अपने साथ चलने के लिए कहा, लेकिन



अमर स्नेह

कथाबिंब के हितैषी एवं नियमित लेखक

मां ने मेरा अनुरोध स्वीकार नहीं किया शायद उसने वक्रत की क्रूरता को सहने का संकल्प कर लिया था. मैंने बार-बार उसके घर का पता पूछा लेकिन वह गांव और शहर जानती ही नहीं थी. अगर जानती भी होगी तो शायद वह बताना नहीं चाहती होगी क्योंकि बार-बार वह यही कहती कि अगर बेटे-बहू की खुशी इसी में है तो वो खुश रहें.

अब मेरे सामने यही एक विकल्प रह गया था. मैं उसे एक वृद्ध आश्रम में ले गया. उसे कुछ कपड़े और ज़रूरी सामान लाकर दे दिये और आश्रम वालों के पास कुछ धन भी जमा करा दिया. मैंने बार-बार उनसे प्रार्थना की कि वह मां का पूरा खयाल रखें. मैं उससे विदा लेकर दो ही कदम चला होऊंगा कि उसने मुझे बेटा कहकर पुकारा और मेरे पास आकर बोली, “तू मां कहे है न, तो हमका चारों धाम का सुख मिल गया. चिंता न करना. हां, मां के पास से खाली हाथ जाइका?” — उसने आंचल को फाड़ के मुझे दे दिया, “बस बेटा यही पूंजी है हमारे लेखे. मां ज़िंदगी भर का सुख-दुख यही में समेटती रहती है — मां का आशीर्वाद हमेशा तेरे साथ है — जा फूलों फलो बेटा....”

मां का आंचल मेरे लिए एक ऐसी प्रेरणा बन गया कि मुझमें जीवन के दुखों को आत्मसात करने की क्षमता आ गयी. जब भी कभी ऐसे क्षण आते मैं मां के आंचल को आंखों से स्पर्श कर लेता और माथे से लगा लेता.

इस बीच मैं विदेश चला गया, एक वर्ष से अधिक समय बीत गया था. जब मैं लौटा तो मैंने आनन-फानन में इलाहाबाद जाने का कार्यक्रम बना लिया. आते समय मैंने मां के लिए बहुत सी चीजें खरीदीं. सर्दी के दिन थे

कुछ गरम कपड़े भी ले लिये और सीधा संगम पहुंच गया — यहां तो सब-कुछ बदला हुआ मिला, वो जगह कहीं खो गयी थी - ये वो जगह है ही नहीं मैं कहीं गलत जगह तो नहीं आ गया? कई दिनों तक मैंने जितने भी आश्रम और रैन-बसेरे थे सब छान डाले लेकिन मुझे बूढ़ी मां का कहीं पता नहीं चल रहा था. रोज मैं मां को ढूंढते-ढूंढते न जाने कितने निःसहाय और बेसहारा लोगों से मिल लेता और उनकी दास्तां सुनकर बोझिल मन लिये होटल वापिस आ जाता — इनमें कुछ लोग दूर-दूर के प्रांतों के थे जिनके सगे-संबंधी उन्हें धोखे से यहां छोड़ गये थे. उनकी तो भाषा भी समझ नहीं आती थी लेकिन सबके पीछे ज़मीन-जायदाद हड़पने या फिर उन निःसहाय बूढ़ों की उनके नज़दीकी संबंधियों द्वारा ज़िम्मेदारी न उठाने की कहानियां थीं. इनमें कुछ ऐसे भी थे जो अपनी औलादों के अपमान न सह सके थे और हार कर घर छोड़ आये थे. आज होटल वाले ने मुझे एक आश्रम का पता दिया और सुबह ज़ल्दी पहुंचने की हिदायत दी क्योंकि ज़्यादातर वहां ठहरे लोग सुबह ही भीख मांगने या मज़दूरी करने निकल जाते हैं. मैं सुबह ही वहां पहुंच गया. लोगों को मां के बारे में बताया लेकिन वो नहीं मिली. हां इसी बीच कुछ लोगों की दर्दिली कहानियां सुनीं तो लगा कि धर्म का ढोल पीटनेवाला हमारा यह समाज कितना निर्दयी, क्रूर, संवेदनहीन, असभ्य और स्वार्थी है. एक बूढ़े ने अपनी छह संतानों को पाल-पोस, पढ़ा-लिखाकर बड़ा किया था. सभी बड़े-बड़े ओहदों पर पहुंच गये. बड़ा लड़का उनके ही घर में रहता था लेकिन उन्हें वहां रखने को तैयार नहीं था. वह उन्हें किसी बहाने दूसरे भाई के पास भेज देता और दूसरा, तीसरे के पास भेज देता. अंत में बड़े ने उन्हें पागल करार देकर पागलखाने में भर्ती करा दिया. वहां से भाग कर ये यहां आ गये और छोटी-सी ट्रांसपोर्ट कंपनी में मैनेजर हो गये. इसी दौरान उन्हें पैरालिसिस अटैक पड़ा और अपाहिज हो गये. अब सड़क पर भीख मांगते हैं. इन्हीं के साथ एक और बूढ़ा है जो उठाने-बिठाने में इनकी मदद करता है. इस बूढ़े के लड़कों ने जायदाद हड़पने के लिए बुखार में इन्हें नींद की दवा का हैवी डोज दे दिया था और पैसा देकर डॉक्टर से इन्हें मृत घोषित करवा कर तुरंत शमशान ले गये. चिता पर रखते ही इनमें चेतना आ गयी फिर इन्हीं के बेटों ने

इन्हें भूत बना दिया. लोग इन्हें देखते तो पत्थर मारते. तंग आकर इन्होंने यहां शरण ले ली. इस देश में संपन्न और बड़ा बनने और बने रहने का यह शाश्वत फॉर्मूला है, कमज़ोर का शोषण, लूट-पाट, धोखा, झूठ-फरेब, बेईमानी..... मैं पूरी तरह से दुःखी और निराश हो चुका था. सोचा लौट जाऊं. मैंने सोचा मां शायद वापिस चली गयी होगी या उसका बेटा उसे ले गया होगा. ज्योंहि मैं मैदान की तरफ़ मुड़ा तो पीछे से किसी ने आवाज़ दी. मुड़कर देखा तो एक भिखारिन पूछने लगी, “बाबूजी आपकी मां मिल गयी?” मैंने नकारात्मक भाव से उसे देखा तो वो सड़क पर पुनः अपने बच्चे के पास आकर बैठ गयी- जिसको उसने एक गंदे कपड़े पर लिटाया हुआ था और भीख मांग रही थी. इससे मैं दो दिन पहले एक रैन बसेरे में मिला था. बेचारी के साथ गांव में ऊंची जात के कुछ लोगों ने बलात्कार किया था और जब उसने यह बात लोगों को बतायी तो ऊंचे लोगों ने उसे रंडी करार देकर उसका काला मुंह करके गांव में घुमाया था. दूसरे दिन उसके बड़े भाई ने नदी में कूदकर आत्महत्या कर ली थी. शायद अपमानित होकर जीने से उसके भाई ने मर जाना बेहतर समझा. अपमान और प्रताड़ना से बचने के लिए यह एक अजनबी के साथ बनारस आ गयी तो एक आश्रम में साफ़-सफ़ाई का काम मिला लेकिन यहां भी ब्रह्मचारी मुस्टंडे इसके साथ वही सब करने लगे. एक दिन बड़े महाराज ने बदनामी के डर से उसे निकाल दिया. वह मुंह छिपाकर इलाहाबाद आ गयी और अब भीख मांगकर संन्यासियों के बच्चों को पाल रही है. — मैं कुछ दूर चला और कुछ सोचकर वापस आ गया और जो कपड़े मैंने मां के लिए खरीदे थे वह उस भिखारिन को दे दिये.

काफ़ी देर तक खाली मन लिये संगम पर घूमता रहा. सदी काफ़ी बढ़ गयी थी. मैं एक चाय की टपड़ी पर बैठकर जब सुस्ताने लगा तो किसी ने बच्चों की तरह मेरी आंखों को हथेलियों से बंद कर लिया. वे मेरे साथ टी. वी. पर अभिनय करने वाले एक पुराने मित्र थे. कुछ औपचारिक बातों के बाद बताने लगे कि वह एक डाक्यूमेंट्री बना रहे हैं. कैमरा टीम उनके साथ ही थी. बड़ा इंटरैस्टिंग सब्जेक्ट है. रियल लाइफ़ एक्टर्स — जिज्ञासा वश मैंने पूछा, “भाई ये क्या है?” तो उन्होंने फ्रेंचकट दाढ़ी को खुजलाते हुए कहा, “हमारे देश में भीख मांगना एक पेशा है. भिखारी

हम-तुम प्रोफेशनल्स से अच्छा अभिनय करते हैं. इन्हें सामने वाले की साइकलॉजी का पूरा ज्ञान होता है और रो-रोकर, गिड़गिड़ाकर, गाकर ऐसी कलाकारी कर गुजरते हैं कि सामनेवाले को जेब से पैसा निकालना ही पड़ता है. दिया तो ठीक, नहीं तो आंख बचाकर जेब सफ़ाई. दिन में घरों में जाकर सब देख-परख लेते हैं और रात को चोरी. चलते-चलते भी हाथ सफ़ाई कर जाते हैं — अभी आते-आते एक कवरेज की. सड़क पर बच्चे को लिटाकर वह भिखारिन रोने लगी, “बच्चे को दूध पिलाना है, भूखा है बाबूजी.” अचानक मेरी नज़र एक पैकेट पर गयी तो पूछा यह कहां से ले आयी? तो वह बोली एक बाबूजी दे गये हैं.

“क्या नये-नये कपड़े थे उसमें?”

“हमने पुलिस का नाम लिया तो एक सेकंड में रफूचक्कर हो गयी साहब. इन समाज विरोधी तत्वों से समाज को जागरूक करने के लिए यह फ़िल्म बना रहा हूँ.”

मैंने सोचा यह तो वहां बच्चों वाली भिखारिन है जिसके बारे में यह बता रहे हैं. मैंने बेचारी को नाहक ही नये कपड़े देकर मुश्किल में डाल दिया उसे. वह तो नये कपड़े पहनकर भीख भी नहीं मांग सकेगी लेकिन इन फ़िल्मवालों की सोच और समझ भी कितनी ओछी और बौनी है? मेरे मित्र ने अपनी बात जारी रखी, “यहीं पास में एक अंधी है. सुबह से शाम तक उसका एकल अभिनय चलता रहता है. आज उसी की शूटिंग करने की योजना बनाकर आया हूँ. अच्छा हुआ तुम से मुलाकात हो गयी. बड़े मौके पर मिले, कुछ शूटिंग की टिप्स लूंगा तुमसे.”

हालांकि शूटिंग में मेरी कोई दिलचस्पी नहीं थी लेकिन मित्र होने के नाते मैं चला गया.

हम जब पहुंचे तो अंधी का खेला चालू था. सोचा गया जब ये दूसरा आवर्तन करेगी तो शुरू से शूट कर लिया जायेगा. इस बीच कैमरे और रिफ्लेक्टर्स आदि का सही-सही स्थानों पर लगाने का काम जारी रहा. मैंने अंधी के क्रिया-कलापों पर गौर किया तो लगा कि जिसे यह लोग कलाकार समझ रहे हैं. वह मानसिक रूप से बीमार कोई गमज़दा है. इसके पूरे शरीर पर चोटें लगी हुई हैं. खासतौर से सिर पर जो रंग-बिरंगी पट्टियां बंधी हुई हैं वे सिर पर गहरी चोट लगने के कारण बांधी होंगी, न कि अभिनय करने के लिए. जो भी कपड़ा कहीं से मिल गया होगा इसने

एक के ऊपर एक बांध लिया होगा. इसने सर्दी से बचने के लिए ऐसा किया होगा न कि विशेष तौर से डिज़ाइन करके कोई कास्ट्यूम पहनी हुई है. यह खेल उसके स्वयं की जीवन यात्रा की त्रासदी नज़र आ रही है. जीवन संदर्भों को याद करते-करते इसके मानस में कोई रट कायम हो गयी है. वो बच्चे को कैसे पालती-पोसती है उनके मन में गहरी पैठ बनाये हुए हैं — इसके तथाकथित खेला में उसकी यादें शामिल हैं. मैं पूरी तरह से उसके मन में उतर कर खोया हुआ था... कि अचानक वह भाववेश में भागी और पास के शिलाखंड से टकरा गयी. मेरे मुंह से अनायास ही “मां” निकल गया और मैंने भागकर उसे संभाल लिया. उस शिलाखंड को देखकर मेरे दिमाग में बिजली कौंधी. शायद यह वही टीला है जहां मां से पहली बार मिला था. दर्द से आहत वह बुदबुदायी, “सरवन बेटा तूने मां को ढूँढ़ ही लिया.”

हां, सरवन उसी के बेटे का नाम है, मुझे याद आया. लेकिन दुःखों को झेलते-झेलते मां इतनी बदल जायेगी मुझे विश्वास नहीं हो रहा था. उसने मेरे चेहरे को दोनों हाथों से लेकर चूमा और मुझे छूकर बुदबुदाने लगी, “बेटा मैं तुझे ढूँढ़ते-ढूँढ़ते अंधी हो गयी.... तेरी मां तेरे लिए ही ज़िंदा है. मां का मन अंदर से हर क्षण बोलता रहा कि बेटा ज़रूर आयी.....” वह कुछ देर शांत रही फिर उठी और गिरती-पड़ती पास में पड़ी गठरी उठा लायी. मैंने जो शाल दिया था उसी की उसने गठरी बनायी हुई थी. वह गठरी मुझे देते हुए बोली, “बेटा, मां का सब तेरा है भीख मांग-मांगकर जमा किया है... सब यही मैं है.” यह कहते-कहते वह प्यार से गले लगाकर मेरा सिर सहलाने लगी और फिर मेरे कंधे पर सिर रख दिया जैसे किसी असीम सुख में वो खो गयी हो. मैंने उसकी चोटों को सहलाया तो वह मेरे आंसू पोंछने लगी और मेरे कंधे पर सिर रखकर खामोश हो गयी. मैंने कई बार उसे पुकारा लेकिन मां अपने बेटे से मिलकर चली गयी थी. उसकी आंख में ठहरे आखरी बूंद पानी ने ढलते-ढलते कहा — इसके सिवा मां के पास कुछ भी नहीं है.

स्नेह फ़िल्म इंस्टीट्यूट,

पो : गोहर,

जिला मंडी- १७५०२९(हिमाचल)

फ़ोन : ९३१ ८६०४९९९



‘जागते रहना है तुमको, सोना नहीं!’

मुकेश शर्मा

बहुत बार होता है कि पाठकों से लेखक केवल अपनी रचनाओं के माध्यम से ही बात नहीं करना चाहता बल्कि सीधे पाठक के सामने अपने मन की गांठ खोलना चाहता है, लेखक और पाठक के बीच की दीवार खत्म करने का प्रयास है यह स्तंभ, ‘आम्ने-सामने’. अब तक मिथिलेश्वर, बलराम, (स्व.) प्रो. कृष्ण कमलेश, कृष्ण कुमार चंचल, संजीव, (स्व.) सुनील कौशिश, डॉ. बटरोही, राजेश जैन, डॉ. अब्दुल बिस्मिल्लाह, कुंदन सिंह परिहार, अवधेश श्रीवास्तव, श्रीनाथ, राम सुरेश, विजय, विकेश निझावन, नरेंद्र निर्मोही, पुत्री सिंह, श्याम गोविंद, प्रबोध कुमार गोविल, स्वयं प्रकाश, मणिका मोहिनी, राजकुमार गौतम, डॉ. रमेश उपाध्याय, सिद्धेश, डॉ. हरिमोहन, डॉ. दामोदर खड़से, रमेश नीलकमल, चंद्रमोहन प्रधान, डॉ. अरविंद, (स्व.) सुमन सरीन, डॉ. फूलचंद मानव, मैत्रेयी पुष्पा, तेजेंद्र शर्मा, हरीश पाठक, जितेन ठाकुर, अशोक ‘अंजुम’, राजेंद्र आहुति, आलोक भट्टाचार्य, डॉ. रूपसिंह चंदेल, दिनेश चंद्र दुबे, डॉ. कृष्णा अग्रिहोत्री, जयनंदन, सत्यप्रकाश, संतोष श्रीवास्तव, उषा भटनागर, प्रमिला वर्मा, डॉ. गिरीश चंद्र श्रीवास्तव, प्रो. मृत्युंजय उपाध्याय, सुधा अरोड़ा, पं. किरण मिश्र, डॉ. तेज सिंह, डॉ. देवेंद्र सिंह, राकेश कुमार सिंह, रमेश कपूर, डॉ. उर्मिला शिरीष, रामनाथ शिवेंद्र, अलका अग्रवाल सिगतिया, संजीव निगम, सूरज प्रकाश, रामदेव सिंह, मंगला रामचंद्रन, प्रकाश श्रीवास्तव, सलाम बिन रजाक, मदन मोहन ‘उपेंद्र’, भोला पंडित ‘प्रणयी’, महावीर रवांटा, गोवर्धन यादव, डॉ. विद्याभूषण, नूर मुहम्मद ‘नूर’, डॉ. तारिक असलम ‘तस्नीम’, सुरेंद्र रघुवंशी, राजेंद्र वर्मा, डॉ. सेराज खान ‘बातिश’, डॉ. शिव ओम ‘अंबर’, कृष्ण सुकुमार, सुभाष नीरव, हस्तीमल ‘हस्ती’, कपिल कुमार, नरेंद्र कौर छाबड़ा, आचार्य ओम प्रकाश मिश्र ‘कंचन’, कुंवर प्रेमिल, डॉ. दिनेश पाठक ‘शशि’, डॉ. स्वाति तिवारी और डॉ. किशोर काबरा से आपका आमना-सामना हो चुका है. इस अंक में प्रस्तुत है मुकेश शर्मा की आत्मरचना.

‘किसने कह दिया कि वह अनाथ है,
अपनी संवेदनाओं के वह साथ है,
बीत ही जायेगी अब यह रात काली,
जब तलक ये जुगनू, अपने साथ है.’

मैं कभी अकेला नहीं रहा, जब रहा अपनी संवेदनाओं की संगति में रहा, नियंत्रित रहा. किस समय कांच पर कंकर लगा, यह कभी किसी को पता नहीं लगने दिया. भावनाओं का नकदीकरण नहीं होने दिया और काली रात को जुगनू के साथ बिता दिया, लेकिन किसी से उधार की रोशनी नहीं मांगी. विद्वानों के सम्मान में मस्तक झुका दिया, किंतु बड़ी से बड़ी ताकत के सामने घुटने टेकना नहीं सीखा. छोटी उम्र में ही यह बात समझ में आ गयी थी कि प्रकृति द्वारा दिये गये एक सीमित, पूर्व निर्धारित समय को व्यतीत करने के लिए हम इस पृथ्वी पर आये हैं और इस अवधि के दौरान जिंदगी को सही तरह से जीना एक कला है एवं यह कला सभी को नहीं आती.

पिताजी श्री राजपाल शर्मा सरकारी नौकरी में रहे, जिस कारण हरियाणा के गुड़गांव, रेवाड़ी, पलवल आदि अनेक शहरों में रहने का अवसर मिला. वर्ष १९७९ में

जब पिता जी के साथ हम रेवाड़ी स्थानांतरित हुए, तब मैं छठी कक्षा में पढ़ता था. मुझे रेवाड़ी के सिविल अस्पताल के सामने स्थित जैन हाईस्कूल में छठी कक्षा में दाखिला दिला दिया गया. छठी, सातवीं, आठवीं तीनों कक्षाओं तक मैं यहीं पढ़ा. उन दिनों शनिवार को कक्षा स्तर पर एक पीरियड ‘बाल सभा’ का होता था और माह के आखिरी शनिवार को पूरे विद्यालय स्तर की ‘बाल सभा’ होती थी, जिसमें विद्यार्थी नाच, गाना, नाटक आदि प्रस्तुत करते थे. इन क्रस्वों के विद्यालयों की बाल-सभाओं से जो बच्चे प्रोत्साहित हुए, उनमें से मैं भी एक हूँ. यहां मिले मास्टर चुन्नी लाल जैन. मोटे, तगड़े, खाते-पीते परिवार के लगने वाले. उनकी नजर जब मेरी बाल सुलभ चंचल हरकतों पर गयी तो उन्होंने कहा—“चल, बाल-सभा में गाना सुना.”

मैंने कहा- “गुरुजी, यदि साथ में डांस भी कर दूं तो चलेगा.”

गुरुजी हंसने लगे—“हा! खूब चलेगा!”

अंधा क्या चाहे, दो आंखें. अमिताभ बच्चन अभिनित फिल्म ‘डॉन’ का गीत - ‘ओ खायी के पान बनारस वाला, खुल जाये बंद अक्ल का ताला....’ खुद ही गाता था और

खुद ही उस पर डांस कर देता था. यहां से स्कूल में अपना सिक्का चल निकला. अब भला कक्षा या विद्यालय स्तर की बाल-सभा हो और उसमें 'मुकेश शर्मा एंड पार्टी' के रंगारंग कार्यक्रम न हों, यह भला कैसे हो सकता है? चुन्नी लाल जैन, ओमप्रकाश शर्मा जैसे गुरुओं को पाकर मैं धन्य था. वास्तव में शिक्षक किसे कहते हैं, यह भला कोई उनसे सीखे. जैन साहब द्वारा निर्देशित एक नाटक का मंचन लगभग बीस बार हुआ होगा, जिसमें मैं भी प्रमुख कलाकारों में था. इस तरह से विद्यालय स्तर से ही मंच पर बोलने की झिझक दूर हो गयी.

वर्षों बाद सन् २००८ में मेरी नियुक्ति जिला कन्ज्यूमर फ़ोरम, रेवाड़ी में 'सदस्य' के रूप में हुई. कहने को इस पोस्ट का नाम 'सदस्य' होता है, किंतु इसमें एक जज वाली ड्यूटी का निर्वाह करना पड़ता है. रेवाड़ी के ज्यूडिशियल कॉम्प्लेक्स में दूसरी मंजिल पर यह कोर्ट होती थी. मैं अपने एक मित्र के साथ गुरुजी चुन्नीलाल जैन साहब (जो इस समय विद्यालय के हेड मास्टर थे) से मिलने जा पहुंचा. मैंने बड़ी श्रद्धा से गुरुजी के पांव छुये और गुरुजी चश्मा साफ़ कर-करके मुझे पहचानने की कोशिश करते रहे. उन्हें शायद अजीब लग रहा हो कि इतने लंबे समय के बाद कोई भला अपने शिक्षक से मिलने कैसे आ सकता है? पर जो भी हो, मुझे बहुत अच्छा लगा.

वापिस चलते हैं जैन स्कूल की छठी, सातवीं, आठवीं क्लास में. उन दिनों घर-घर में टेलीविजन नहीं होते थे. सिनेमा हॉल जाने के नाम पर माता-पिता थप्पड़ से बच्चों का स्वागत करते थे. गली, मोहल्लों में खूल-कूद करने के अतिरिक्त अन्य कोई मनोरंजन के विशेष साधन नहीं होते थे. तो शाम को मुझे जैसे बच्चे चले जाते थे जैन लाइब्रेरी या अग्रवाल लाइब्रेरी. फिर मैं सनकी, मैंने खुद बना ली घर में लाइब्रेरी. पढ़ने के संस्कार, अच्छे साहित्य के प्रति लगाव शायद यहीं से शुरू हो गया. साहित्यिक रचनाएं पढ़कर पूरी तरह समझ में नहीं आती थीं, किंतु उन्हें पढ़कर एक सुखद अनुभूति अवश्य होती थी. तब मैंने अपनी तरफ़ से कहानी लिखने की कोशिश की थी.

खैर पिताजी का तबादला वापस गुड़गांव हो गया. रेवाड़ी छोड़कर हम गुड़गांव आ गये. तब नवीं, दसवीं, प्रैप (आजकल की प्लस वन एवं टू) की शिक्षा गुड़गांव में ही ली और यहां भी मैं स्कूल की सांस्कृतिक गतिविधियों में



२० फरवरी, १९६९, गुड़गांव (हरियाणा)

- शिक्षा** : *सम. स., सल. सल. बी., पत्रकारिता एवं जनसंचार डिप्लोमा.*
- लेखन** : *साहित्यिक-परिचय के नाम पर हंस, सा. हिंदुस्तान, नवभारत टाइम्स, दै. हिंदुस्तान आदि प्रमुख पत्र, पत्रिकाओं में कहानियां, लघुकथाएं प्रकाशित, अनुदित. दूरदर्शन केंद्र, आकाशवाणी केंद्रों द्वारा प्रसारित. हरियाणा साहित्य अकादमी, हरियाणा प्रादेशिक हिंदी साहित्य सम्मेलन, ट्रिब्यून समाचार-पत्र समूह आदि द्वारा सम्मानित, पुरस्कृत. कहानी-संग्रह पर शोधार्थी द्वारा सम. फ़िल. आदि.*
- प्रकाशन** : *'आंखें बोलती हैं' (कहानी संग्रह), 'लघुकथा : 'समीक्षा', 'लघुकथा : रचना और समीक्षा दृष्टि'.*
- संप्रति** : *लेखकी एवं वकालत के साथ 'नंबरदारी' का शौक. अनेक सरकारी मानद पदों पर कार्य. सच के लिए लड़ते रहने की कोशिश करने वालों का और न्याय के लिए तंत्र का सामना करने वालों का साथ देने वाला वकील और सरकार द्वारा गठित जिला कन्ज्यूमर फ़ोरम का सदस्य.*

प्रमुख विद्यार्थी के रूप में रहा.

नवीं कक्षा में पढ़ते हुए मुझे लघु-पत्रिका प्रकाशित करने की सनक सवार हो गयी. तब वर्ष १९८३ में 'उमंग भारती' शीर्षक से एक लघु-पत्रिका का अंक निकाला, जिसमें मेरी एक लघुकथा 'मिलावट' प्रकाशित हुई. शायद यही मेरी पहली प्रकाशित रचना है. वर्ष १९८३ में ही 'फिल्मी कलियां', 'बालक पत्रिका' (१९८४), दै.

पंजाब केसरी (१९८४), सरिता (१९८४) आदि में रचनाएं फ़ोटो आदि प्रकाशित हुए, जिससे मुझे एक दिशा मिलती चली गयी.

प्रेम में कॉलेज की हवा लगी और मैं पंख फैलाकर ऊपर उड़ता चला गया. यहां हवा में उड़ते-उड़ते मुलाकात हुई मेरे बेस्ट फ्रेंड राजेश से (मान लीजिए उसका नाम राजेश था), वह मुझसे पहले ही उड़ान पर था. प्रेम में एक बार फेल होने के बाद वह दोबारा प्रेम में था, लेकिन धरती से एकदम बेखबर. राजेश के पापा दूसरे प्रदेश में सरकारी नौकरी में थे और परिवार के अन्य सदस्य उनके साथ उस प्रदेश में ही रहते थे. गुड़गांव में घर का मकान था, जहां पर किरायेदार के अतिरिक्त अकेले राजेश जी विराजमान थे.

राजेश को किसी भी सुंदर लड़की से जल्दी ही प्यार हो जाता था और वह बाकायदा उसके लिए रोना, पीटना शुरू कर देता था. राजेश हम सब दोस्तों के साथ दोस्ती में पूरा ईमानदार था, किंतु लड़कियों वाले मामलों को छोड़कर. इन मामलों में वह तब तक हमें हवा भी नहीं लगने देता था, जब तक कोई गड़बड़ न हो जाये. उसके ऐसे समय के कष्ट के साथी हम थे. उसके साथ रहते हुए मैंने उसकी अनेक प्रेम-कहानियों को देखा और सच पूछें तो मेरे द्वारा लिखी गयी अनेक प्रेम कहानियों के केंद्र में वही था.

मैं स्कूल, कॉलेज में लोकप्रिय रहा, जिस कारण मैं स्वयं को 'विशेष' समझता था और अपनी रिस्पेक्ट के प्रति सचेत रहता था. लेकिन राजेश के भीतर एक 'सच्चा' आशिक छिपा था, जो मोहब्बत को पूरे उफान पर लेकर जाता था और समाज, सुमुज की कोई खास परवाह नहीं करता था. उसके साथ बिताये भावुकता के दिनों को भुलाया नहीं जा सकता. उन्हीं दिनों राजेश और एक लड़की (मान लीजिए उसका नाम रंजना था, प्लीज़... नो रियल नेम) के बीच गहरा प्रेम हो गया. यद्यपि उसी दौरान मैं गुड़गांव से वापस रेवाड़ी स्थानांतरित हो चुका था. किंतु समय-समय पर उनके संपर्क में रहता था. उन दिनों घर-घर में टेलीफोन नहीं होते थे और मोबाइल फ़ोन तो प्रचलन में थे ही नहीं. लिहाजा पत्र-व्यवहार ही एकमात्र सस्ता साधन था, जिससे एक-दूसरे के समाचार मिलते थे.

प्रेम के शुरुआती दिनों में राजेश और रंजना एक-दूसरे से विवाह करना चाहते थे. किंतु परिस्थितियां कुछ ऐसी बन गयीं कि यह संभव नहीं हो सका. बाद में विवाह करने के नाम पर राजेश का मन बदल गया. राजेश का विवाह कहीं और हो गया और निराश रंजना का विवाह भी कहीं और हो गया. विवाह के कुछ वर्षों बाद राजेश किसी गंभीर बीमारी से पीड़ित हो गया और युवावस्था में ही हमें छोड़कर चला गया. अपने जीवन के अंतिम दिनों में (तब तक वह घूम-फिर सकता था) राजेश मोटर साइकिल में पेट्रोल डलवाने जा रहा था और रास्ते में रंजना का घर (मायकेवाला) आता था. रंजना गेट पर खड़ी थी. राजेश ने मोटर साइकिल खड़ी की और मुस्कराता हुआ उसके सामने जा पहुंचा. रंजना उसे भीतर ले गयी और उसे अपने कमरे में बैठाया.

बातचीत में रंजना का पारा गर्म हो गया और वह उसे भला-बुरा कहने लगी. राजेश बाहर आया और मोटर साइकिल स्टार्ट करके तुरंत वहां से चला गया. यह शायद उनकी आखिरी मुलाकात थी. कुछ महीनों के बाद राजेश का निधन हो गया और ऐसा सुनने में आया कि अपने विवाह के कुछ वर्षों बाद रंजना का दिमागी संतुलन कुछ हिल चुका था. हंसी-हंसी में दो जीवन नष्ट हो गये. मैंने अपना 'बेस्ट-फ्रेंड' खो दिया. इस जीवन में इतनी नजदीकी दोस्त अब मिलने वाला नहीं. वर्ष १९८४ में मैंने उसे एक शीशे के फ्रेम वाली गिफ्ट उसके जन्मदिन पर दी थी, जिस पर लिखा था—'तुम जियो हजारों साल, साल के दिन हों पचास हजार.'

□

वापस चलते हैं ग्यारहवीं क्लास में, प्लीज़. वर्ष १९८६ में हम दोबारा रेवाड़ी स्थानांतरित हो गये. तब तक साहित्य के बीज मुझ में फूट चुके थे. यहां मैं संपर्क में आया उस समय के सक्रिय लघुकथाकार तरुण जैन के. वे 'आगमन' नाम से एक लघु-पत्रिका निकालते थे. उनके कार्यालय में लघु-पत्रिकाएं पढ़ते-पढ़ते मुझे लगा कि मुझे भी एक लघु-पत्रिका निकालनी चाहिए. न साधन थे और न संपर्क. खैर, किसी तरह कोशिश करके अनियतकालिक पत्रिका 'राही' शुरू की, जिसके तीन अंक प्रकाशित हुए.

वर्ष १९८७ में 'राही' का लघुकथा के समीक्षा पक्ष पर केंद्रित आलेखों का विशेषांक प्रकाशित किया गया.

अच्छा रिस्पांस मिला. साधनों के अलावा और सारी व्यवस्था बनती चली गयी. वर्ष १९८७ में मेरे द्वारा संकलित पहली पुस्तक 'लघुकथा-समीक्षा' प्रकाशित हुई, जिसमें शंकर पुणतांबेकर, भगीरथ, विक्रम सोनी, सतीशराज पुष्करणा, डॉ. शमीम शर्मा, मुकेश शर्मा आदि के लघुकथा के समीक्षा पक्ष पर केंद्रित आलेख थे और विष्णु प्रभाकर, मुद्रा राक्षस, राजेंद्र यादव, मन्नू भंडारी, शानी, नरेंद्र कोहली आदि की लघुकथा पर आधारित टिप्पणियां थीं. इस पुस्तक में यह दावा किया गया था कि यह लघुकथा के समीक्षा पक्ष पर केंद्रित पहला संकलन है. यह दावा कितना सही है और कितना गलत, यह बात शोधार्थी जानें.

उन दिनों ब्लैक एंड व्हाइट टी. वी. पर शाम को साहित्य पर आधारित एक कार्यक्रम प्रसारित होता था. ऐसे में एक कार्यक्रम में प्रसिद्ध साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर ने एक साक्षात्कार में इस पुस्तक 'लघुकथा-समीक्षा' की और मेरी चर्चा करते हुए कहा कि उन्हें नये लेखकों से काफ़ी आशाएं हैं. यह मेरे लिए बड़ा प्रोत्साहन था. हालांकि मैं काफ़ी समय के गैप के बाद विष्णु प्रभाकर जी से मिलता रहा था, किंतु यह उनका बड़प्पन था कि वे तुरंत मुझे 'रिकॉग्नाइज़' करते थे.

प्यास के मारे वह मछली छोटपटायी है,
तालाब में भी यारो राजनीति आयी है,
अब कमल के फूल को उगने न देंगे,
काई और कीचड़ ने मिल के यह कसम खायी है.
जैसे जूते पर ब्रश मारने से जूता चमकता है, इसी तरह इस दौरान मुझे भी रगड़े लग-लगकर यह समझ में आने लगा था कि इन बुद्धिजीवी लोगों का वास्तविक चरित्र क्या है? शायद वर्ष १९८८ की बात हो. गज़लकार सत्यपाल सक्सेना (अब दिवंगत) के साथ मिलकर रेवाड़ी में एक 'लघुकथा-संगोष्ठी' का कार्यक्रम बनाया गया, जिसमें सक्सेना जी दिल्ली के कुछ प्रसिद्ध लेखकों को साथ लेकर आने वाले थे. सक्सेना जी गुड़गांव रहते थे और मैं रेवाड़ी.

जिस दिन, जिस समय पर यह संगोष्ठी आयोजित की जानी थी, बिल्कुल उसी दिन, उसी समय हमारे गोष्ठी स्थल के निकट स्थित दूसरे स्थल पर मेरे एक वरिष्ठ साहित्यकार 'मित्र' ने एक कवि-गोष्ठी का आयोजन करा दिया और हमारी संगोष्ठी में शामिल होने वाले स्थानीय

कवियों, बुद्धिजीवियों को इस कवि-गोष्ठी में उपस्थित करा दिया. वे शहर के पुराने नामी व्यक्ति थे और उनका प्रभाव मुझसे अधिक था. इस कवि-गोष्ठी की मुझे भनक तक नहीं लगने दी गयी थी. लिहाजा लघुकथा-संगोष्ठी में उपस्थिति कम हो गयी. जब मेरे शुभ-चिंतकों ने मुझे इस 'कवि-गोष्ठी' की सूचना दी तो मुझे विश्वास नहीं हुआ. मैं जायज़ा लेने के लिए उस कवि-गोष्ठी स्थल पर गया और हैरान हो गया कि स्वयं को मेरा बड़ा भाई बताने वाला मित्र ही उस गोष्ठी का मंच-संचालन कर रहा था. मुझे लगा कि यह मेरे साथ एक षड़यंत्र था, जो मुझे भविष्य के लिए बहुत कुछ सिखाकर गया. करनाल से जाने-माने लघुकथाकार अशोक भाटिया जब लघुकथा-संगोष्ठी स्थल ढूंढते हुए आ रहे थे तो कवि-गोष्ठी के आयोजक उन्हें भी अपने साथ ले गये. वहां भाटिया जी ने पूछा कि मुकेश शर्मा कहां है? तब उन्हें बताया गया कि मुकेश शर्मा की गोष्ठी दूसरे स्थल पर है और वहां गिने-चुने लोग ही मौजूद हैं. तब अशोक भाटिया वहां से यह कहकर उठ गये कि मुझे मुकेश शर्मा ने बुलाया है, मैं वहीं पर जाऊंगा, भले ही वहां पर गिनती के चार लोग ही मौजूद हों. ऐसी घटनाओं ने मुझे भविष्य के लिए सचेत कर दिया था.

दीवार में से रास्ते तैयार कीजिए,
इसके लिए प्रयास बार-बार कीजिए.
पांवों तले दबी हुई माटी ने पुकारा,
आना तो है यहीं, न तिरस्कार कीजिए.

हंस, सा. हिंदुस्तान, नवभारत टाइम्स, दै. हिंदुस्तान, दै. ट्रिब्यून, कथाबिंब आदि पत्र-पत्रिकाओं में मेरी कहानियां, लघुकथाएं आदि प्रकाशित हुईं. अनुदित हुईं, रेडियो, टी. वी. से प्रसारित हुईं. इस दौरान आकाशवाणी, रोहतक की आशा शुक्ला, दै. ट्रिब्यून के वेद प्रकाश बंसल, दै. हिंदुस्तान के विजय किशोर मानव ने मुझे प्रसारित, प्रकाशित करके विशेष प्रोत्साहित किया. महाविद्यालयों के ज़ोनल यूथ फेस्टिवल में लगातार दो वर्षों से मैं 'सेकंड बेस्ट एक्टर' पुरस्कार से पुरस्कृत हुआ, जबकि महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय, रोहतक का प्रतिनिधित्व करते हुए उत्तर भारत युवा समारोह (अलीगढ़ में) तथा अखिल भारतीय युवा समारोह (अकोला, महाराष्ट्र में) तक पहुंचा. प्रमाण-पत्रों और मैडल्स का ढेर लग गया, जिससे मैं इस

गलत-फहमी का शिकार हो गया कि नौकरी के लिए चयन के समय मुझे हाथों-हाथ लिया जायेगा, किंतु जल्दी ही मेरी यह गलत-फहमी दूर हो गयी.

जागते रहना है तुमको, सोना नहीं,
चाहे मिले फिर रेत, बिछौना नहीं.
चलने की कोशिश में कांटा लगा,
देखो रोना नहीं, देखो रोना नहीं.

वर्ष १९८९ में फिर गुडगांव वापसी. 'नवभारत टाइम्स' में संवाददाता के रूप में कार्य शुरू किया. उन दिनों राजेंद्र भारद्वाज 'हरियाणा डेस्क' के प्रभारी होते थे. सही मायने में सच्चा पत्रकार किसे कहते हैं यह मैंने राजेंद्र भारद्वाज जी से ही सीखा. यदि मैं उनके संपर्क में न होता तो शायद पत्रकारिता में भटक गया होता. उन दिनों सोहना में 'डिज़्नीलैंड आंदोलन' चल रहा था. पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर ने गुडगांव के निकट भौंडसी गांव में 'भारत यात्रा केंद्र' में रहना शुरू कर दिया था अर्थात् यह क्षेत्र राजनीति का केंद्र बनना शुरू हो गया था. इस दौरान मदन टरेसा, पूर्व प्रधानमंत्री चंद्रशेखर, तत्कालीन राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा, कांग्रेस अध्यक्ष सोनिया गांधी, ताऊ देवीलाल, स्वामी अग्रिवेश, फ़िल्म अभिनेता दारा सिंह, अमरीश पुरी, श्रीदेवी आदि अनेक शिखिसयतों से मिलने का, साथ रहने का अवसर मिला. बाद में दै. जनसंदेश, राष्ट्रीय सहारा में उप-संपादकी की और कुछ वर्षों में मुझे यह आभास हो गया कि पत्रकारिता का क्षेत्र मेरे लिए नहीं है. इस दौरान मैं विधि-स्नातक हो चुका था, लिहाजा 'राष्ट्रीय सहारा' से मैं उस समय के सम्मानजनक वेतन को छोड़कर वकालत में आ गया.

वर्ष १९९३ में मेरी दूसरी पुस्तक 'लघुकथा : रचना और समीक्षा दृष्टि' अयन प्रकाशन, दिल्ली द्वारा प्रकाशित की गयी. इस संकलन में हरिशंकर परसाई, विष्णु प्रभाकर, रामनारायण उपाध्याय, डॉ. कमल किशोर गोयनका, डॉ. हरिशंकर वर्मा के मुकेश शर्मा द्वारा लिये गये लघुकथा पर केंद्रित साक्षात्कार हैं. मेरे सीमित ज्ञान के अनुसार श्री हरिशंकर परसाई का लघुकथा पर केंद्रित कोई भी दूसरा प्रकाशित साक्षात्कार उपलब्ध नहीं है. आश्चर्य है कि लघुकथा और इसकी समीक्षा को पुष्ट करने की दुहाई देने वाले लघुकथाकारों ने हरिशंकर परसाई और विष्णु प्रभाकर द्वारा दी गयी सटीक टिप्पणियों पर कोई गौर नहीं

फरमाया, जबकि इन दोनों विद्वानों के साक्षात्कार पर ही गंभीर गोष्ठी का आयोजन किया जा सकता है.

इसके अतिरिक्त इस संकलन में रमेश बत्तारा, महावीर प्रसाद जैन, जगदीश कश्यप, पृथ्वीराज अरोड़ा, कमलेश भारतीय, अशोक भाटिया, सिमर, सदोष, अशोक लव, महेश दर्पण, मुकेश शर्मा की चार-चार, पांच-पांच लघुकथाएं हैं. वर्ष १९९३ में ही मेरा पहला एकल कहानी संग्रह 'आंखें बोलती हैं' सत्साहित्य भंडार, दिल्ली द्वारा प्रकाशित किया गया. इस संग्रह का विमोचन प्रसिद्ध साहित्यकार एवं नवभारत टाइम्स के तत्कालीन प्रधान संपादक डॉ. विद्यानिवास मिश्र द्वारा किया गया.

□

अब थोड़ी सी बात कमलेश्वर जी की. ७ अगस्त १९९३ को कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र के सीनेट हॉल में दै. ट्रिब्यून कहानी प्रतियोगिता वर्ष १९९३ में पुरस्कार प्राप्त करने वाले कहानियों के युवा कथाकारों को पुरस्कृत किया जाना था. जिनमें मुख्यतः युवा कथाकार प्रतिभा और मुकेश शर्मा थे. कमलेश्वर जी कार्यक्रम के अध्यक्ष थे और तत्कालीन राज्यपाल मुख्य अतिथि थे. राज्यपाल का भाषण कमलेश्वर जी से पहले था.

राज्यपाल महोदय ने अपने भाषण में कहा कि मुझे बहुत खुशी हुई कि इस कार्यक्रम में मुंशी प्रेमचंद के पुत्र कमलेश्वर आये हुए हैं. सब हैरान. लेकिन साहब, राज्यपाल का भाषण था, कौन बीच में बोले. कमलेश्वर जी ने इस बात को बखूबी संभाला. कमलेश्वर जी ने अपने वक्तव्य में कहा कि राज्यपाल महोदय कहते हैं कि मैं मुंशी प्रेमचंद का पुत्र हूं. एक प्रकार से वे ठीक ही कहते हैं. मैं उन्हें बताना चाहूंगा कि मैं मुंशी प्रेमचंद का पुत्र नहीं, बल्कि मानस पुत्र हूं. यह अलग बात है कि समाज में पुत्रों की चर्चा अधिक होती है और मानस पुत्रों की कम. कमलेश्वर जी ने राज्यपाल की बात को तो संभाला ही, साथ-साथ उनके असरदार वक्तव्य से हॉल में 'पिन ड्रॉप' साइलेंस हो गया था.

उनकी हाजिर-जवाबी की ऐसी ही दूसरी घटना गुडगांव में हुई. 'कहानी' पर गोष्ठी थी. कमलेश्वर जी मुख्य अतिथि थे. कमलेश्वर जी ने आयोजकों को कहा कि अपने शहर के किसी रचनाकार से भी बुलवायें. अब यह कोई कवि-गोष्ठी तो थी नहीं, भला कहानी पर कौन बोले? बहरहाल आयोजकों ने मुझे बोलने के लिए आमंत्रित कर दिया. मैंने कहानी पर

बोलते हुए कहा कि आजकल की कहानियों में कालजयी पात्रों का अभाव है। शरतचंद्र का 'देवदास', कृष्ण-चंद्र की 'सोनोरा', मुंशी प्रेमचंद के 'होरी' जैसे पात्र अब उपन्यास या कहानी में नहीं हैं, जिन्हें याद रखा जाये।

अब कमलेश्वर जी को बोलना था। उन्होंने कहा कि मुकेश शर्मा कहते हैं कि आज देवदास नहीं है, मैं उन्हें बताना चाहूंगा कि वास्तव में आज पारो ही नहीं है। यदि सही मायने में पारो होगी तो देवदास आपको आज भी मिल जायेगा। उन्होंने कहा कि पारो देवदास को देव दा कहती थी। बंगाल में अपने से बड़े के लिए सम्मानपूर्वक 'दादा' या 'दा' शब्द का प्रयोग किया जाता है। देवदास को अपने से बड़ा मानते हुए ही पारो देवदास को 'दा' कहती थी। कमलेश्वर जी अपने बुद्धिमतापूर्ण तर्कों से श्रोताओं को चमत्कृत कर देते थे।

छपना-छपाना, सम्मानित, पुरस्कृत होना, पुस्तकों की भूमिकाएं लिखना या पुस्तकों पर एम. फ़िल हो जाना जैसी चीजें मेरे साथ भी रही हैं। किंतु न जाने क्यों मैं इन सब बातों से प्रभावित नहीं होता हूँ। मुझे लगता है कि लेखक आगे चलते हैं और पुरस्कार उनके पीछे चलते हैं। यदि कोई प्रतिभाशाली छात्र आपकी पुस्तकों पर एम. फ़िल. या पीएच. डी. करे तो वह लेखक को भी रास्ता दिखा सकता है, अन्यथा लेखक भर्ती होने के लिए की जाने वाली एम. फ़िल आदि का लेखक को कोई लाभ नहीं होने वाला। रचना में दम होगा तो लेखक को याद किया जायेगा, अन्यथा पुरस्कारों की वजह से कौन, किसे याद रखता है। तुलसीदास, सूरदास या कबीरदास को कौन सी अकादमी का अवार्ड मिल गया था? ये कोई एम. ए., पीएच. डी. भी नहीं थे। रचना पहले है, बाकी चीजें बाद की हैं।

शोध कार्यों के नाम पर एक छात्रा का नाम याद आता है। ये थीं जर्मनी की इरा सरमा। ये लघुकथाकार राजकुमार निजात (सिरसा) के साथ मेरे कार्यालय पर आयी थीं और मेरे लिए यह चौंका देने वाली बात थी कि जर्मनी के एक विश्वविद्यालय द्वारा लघुकथा पर पीएच. डी. करायी जा रही थी और वह भी हिंदी लघुकथा पर। शोध कार्यों के प्रति उसकी गंभीरता को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि शोध कार्यों के लिए जो भारतीय छात्र हम लोगों से संपर्क करते थे, उनकी मांग प्रायः 'रेडिमेड सामग्री' के लिए ही

होती थी।

मैं ईमानदारी से इस बात को स्वीकार करना चाहूंगा कि विवाह के पश्चात मेरे अच्छे-बुरे समय में जैसा साथ मेरी धर्मपत्नी सुमन शर्मा ने दिया, वह अविस्मरणीय है। मेरी माताजी श्रीमती शमा देवी कैंसर रोग से पीड़ित थीं और लंबी बीमारी के बाद २८ सितंबर २००९ को उनका देहांत हो गया। हम बिना मां के हो गये। इस कष्ट के समय में जो सेवा सुमन ने मेरी माता जी की, ऐसी सेवा न तो मैं पुत्र होते हुए कर सकता था और न ही मेरी सगी बहन ऐसी सेवा कर सकती थी।

जब मेरा विवाह हुआ तो मेरी एक आंटी श्रीमती राज रानी चौहान (फरीदाबाद) ने कहा कि बेटा! मैं तुझे एक किताब दूंगी, उसका नाम है— 'स्त्री सुबोधिनी', वह अपनी बहू को पढ़वाना। जब उन्हें पता चला कि सुमन ने मेरी माता जी की सेवा में दिन-रात एक कर दिया तो उन्होंने कहा कि बेटा, तेरी बहू को कोई 'स्त्री-सुबोधिनी' पढ़वाने की ज़रूरत नहीं है, यह तो खुद ही 'स्त्री-सुबोधिनी' लिख सकती है! मुझे लगा कि इसे कहते हैं— असली पुरस्कार। ऐसे आशीर्वाद के सामने छद्म पुरस्कारों का कोई मोल नहीं।

देश की आजादी के लिए कुर्बानियां देने वाले अपने पूर्वजों को कैसे भूल जाऊं? मेरे परदादा आचार्य दीपचंद्र और दादा पं. गूगनराम महान स्वतंत्रता सेनानी थे और ज्योतिष, संस्कृत के प्रकांड विद्वान। सन् १८७६ में ग्राम बिरधाना (झज्झर) में जन्मे आचार्य दीपचंद्र ने सन् १९२८ में संस्कृत भाषा में ज्योतिष पर आधारित एक पांडुलिपि तैयार की थी। अपने जीवन के अंतिम दिनों में मेरे दादा जी ने मुझे झज्झर बुलवाकर इस संकलन को प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की। इसे हिंदी में अनुदित कराने और प्रकाशित कराने के लिए मुझे काफ़ी पापड़ बेलने पड़े। अंततः सन् २००५ में यह 'मुहूर्त दीपचंद्रिका' शीर्षक से पुस्तक रूप में सामने आयी।

वर्ष २००० में टैक्स कानून पर मेरी एक पुस्तक अंग्रेजी में प्रकाशित हुई। प्रगति मैदान, नयी दिल्ली में आयोजित विश्व पुस्तक मेले में इसका विमोचन टाइम्स ऑफ इंडिया प्रकाशन समूह के तत्कालीन निदेशक साहू रमेश चंद्र जैन द्वारा किया गया था। जैन साहब चाहते थे कि कानून पर आधारित पुस्तकें भी हिंदी भाषा में प्रकाशित

होनी चाहिए.

इनको संभालो ये अपनी ही हैं,
आंसू को आंखों से खोना नहीं.
ये तुम्हारे रहेंगे सदा के लिए,
इन ज़ख्मों को अब तुमको धोना नहीं.

आंसू आंखों के भीतर ही अच्छे लगते हैं. संवेदनशील
व्यक्ति के लिए यह समझ लेना ज़रूरी है कि एक दुनिया
उसके मन के भीतर है, जो मासूम है. एक दुनिया,

सामाजिक दुनिया है और इसके तंत्र के बीच वह काम कर
रहा है. इन दोनों के बीच में सही संतुलन बनाना बहुत ज़रूरी
है. इसलिए अपने मन में छिपे अपने मूल व्यक्ति को जीवित
रखें और व्यावहारिक दुनिया से व्यावहारिकता की ही अपेक्षा
रखें. कम लिखें, लेकिन अच्छा लिखें.

✉ म. न. १४४५, सेक्टर चार,
अर्बन एस्टेट, गुडगांव (हरि.)-१२२००६.

फोन : ९८१००२२३१२

ईमेल- mukeshsharma69@gmail.com

: प्राप्ति-स्वीकार :

पारो (उपन्यास) : पं. नरेश कुमार शर्मा, सी-८०३, सेटेलाइट पार्क, गुफा मार्ग, जोगेश्वरी (पू.), मुंबई-६०. मू. ५० रु.
कमलेश्वर की यादगारी कहानियां (कहानी सं.) : सं. तेजपाल सिंह धामा, हिंद पॉकेट बुक्स, जोरबाग लेन, नयी दिल्ली-३.
अभी उम्मीद बाकी है (कहानी सं.) : डॉ. संदीप अवस्थी, कश्यप पब्लिकेशन्स, दिलशाद एक्सटेंशन-२, गाजियाबाद-५.
मू. २०० रु.

अनावरण (कहानी सं.) : कुंवर किशोर टंडन, पहले पहल प्रकाशन, भोपाल. मू. २५० रु.

गली वाला आम का वृक्ष (कहानी सं.) : कुंवर किशोर टंडन, पहले पहल प्रकाशन, भोपाल. मू. १७५ रु.

चौपार (कहानी सं.) : डॉ. सूर्यदीन यादव, नीरज बुक सेंटर, सी-३२, आर्यनगर सोसायटी, दिल्ली-११००९२. मू. २५० रु.

समांतर रेखाओं के बीच (कहानी सं.) : चंद्रप्रकाश पांडेय, परंतप प्रकाशन, बी-५०५, कैलाश विहार, कानपुर-१७. मू. २०० रु.

२१ श्रेष्ठ कहानियां (कहानी सं.) : पूजाश्री, डायमंड पॉकेट बुक्स, एक्स-३०, ओखला इंड. एरिया,

नयी दिल्ली-११००२०. मू.

नारी यदि चाहे तो (कहानी सं.) : पूजाश्री, मनोज बुक्स, १००/डी-५, गोरई पार्ट-१, बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९२.

मू. १५० रु.

दरवाजा कौन खोलेगा (कहानी सं.) : कमलेश भारतीय, साहित्य प्रकाशन, १० प्रथम तल, जाट धर्मशाला,

हिसार (हरियाणा). मू. ७५ रु.

बूंद से समुद्र तक (ल. सं.) : डॉ. सतीश दुबे, साहित्य संस्थान, ई-१०/६६३, उत्तरांचल कॉलोनी,

गाजियाबाद-२०११०२. मू. ४९५ रु.

मरीन ड्राइव के गड्ढे (व्यंग्य) : डॉ. सतीश शुक्ल, संयोग प्रकाशन, २०४-ए, चिंतामणि, आर एन पी पार्क,

भायंदर, ठाणे. मू. १०० रु.

स्वप्न नहीं मरते... (काव्य संग्रह) : रजनी नय्यर मल्होत्रा, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, सीहोर-४६६००१.

मू. १२५ रु.

उजला आसमां (का. सं.) : संगीता स्वरूप गीत, शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट, सीहोर-४६६००१. मू. १२५ रु.

पांचवां मौसम (का. सं.) : शिल्पा सोनटक्के, शिवानी प्रिंटर्स, ३४ न्यू माताजी बिल्डिंग, मुलुंड (प.), मुंबई-४०००८१.

मू. १५० रु.

हल्दी लिपटे हाथ (गीत सं.) : डॉ. कपिल कुमार, रचना साहित्य प्रकाशन, कालबा देवी रोड, मुंबई-४०० ००२. मू. १५० रु.

सूरज से सीखें ... (गीत सं.) : जगन्नाथ विश्व, गरिमा प्रकाशन, मनोबल, हनुमान नगर, नागदा-४५६ ३३५. मू. १५० रु.

खुले तीसरी आंख (गज़ल सं.) : चंद्रसेन विराट, समांतर पब्लिकेशन्स, तराना, उज्जैन (म. प्र.). मू. २५० रु.

उमड़ा सागर प्रेम का (दोहा सं.) : डॉ. प्रद्युम्न भल्ला, प्रेम साहित्य प्रकाशन, सेक्टर २०, शहरी संपदा, कैथल-१३६०२७.

मू. ५० रु.



सागर/सीपी

‘प्रवासी साहित्य मुख्यधारा का ही अंग है!’

— डॉ. कमल किशोर गोयनका

(डॉ. कमल किशोर गोयनका देश-विदेश में ‘प्रेमचंद स्कॉलर’ और ‘प्रेमचंद्र विशेषज्ञ’ के रूप में विख्यात हैं। प्रेमचंद पर २५ पुस्तकें, अन्य विषयों पर २४ पुस्तकें, प्रेमचंद विश्वकोश के दो खंड, प्रेमचंद कहानी रचनावली ६ खंड, प्रेमचंद पर १४०० पृष्ठों के अज्ञात एवं अप्राप्य साहित्य की खोज तथा प्रकाशन करने वाले, लगभग ३००० मूल दस्तावेजों, पत्रों, पांडुलिपियों, फोटोग्राफों का संग्रह करने वाले, हिंदी के प्रवासी साहित्य के मूल्यांकन के लिए तीन दशकों से कार्यरत हैं। डॉ. कमल किशोर गोयनका के साथ ‘कथाबिंब’ के लिए डॉ. सुधा ओम ढींगरा की विशेष बातचीत।)

◆ गोयनका जी, आपका जन्म तो एक मारवाड़ी परिवार में हुआ, फिर साहित्य की तरफ आपका रुझान कैसे हुआ? वे कौन से आरंभिक प्रेरणा स्रोत थे जिन्होंने आपको साहित्य-पथ का पथिक बनाया।

सुधा जी, आप ठीक कहती हैं, मेरा जन्म एक मारवाड़ी परिवार में हुआ जो व्यापारी था और पुश्तैनी ज़मींदारी थी, परंतु बी. ए. के शिक्षण काल से ही मुझमें साहित्य के संस्कार उत्पन्न होने लगे। मेरे पिता जी का बड़ा पुस्तकालय था और मेरे माता-पिता को स्वाध्याय का बड़ा शौक था। मैंने इस पुस्तकालय से धार्मिक और सामाजिक साहित्य पढ़ा और ‘मर्यादा’, ‘प्रभा’, ‘चांद’, ‘माधुरी’, ‘हंस’ आदि अनेक पत्र-पत्रिकाएं तो पढ़ी हैं।

मैं समझता हूं, साहित्य की ओर आने की प्रवृत्ति ईश्वर ने ही प्रदान की, किंतु इस पारिवारिक परिवेश ने उसे मजबूत बनाया। बी.ए. करते समय एक कवि-गोष्ठी में जय शंकर प्रसाद बना था और ‘आंसू’ के कुछ पदों का मैंने पाठ किया था। बस साहित्य प्रेम ही दिल्ली ले आया और हिंदी साहित्य से एम. ए. की परीक्षा प्रथम श्रेणी में पास की। इसके उपरांत वर्ष १९६२ में मैं दिल्ली का प्राध्यापक बना और फिर साहित्य ही मेरा जीवन बन गया।

◆ आपने अपने साहित्य प्रेम को पहचाना, और साहित्य आपका जीवन बन गया, परंतु अध्ययन और अनुसंधान का विषय ‘प्रेमचंद’ ही क्यों चुना?

सुधा जी, मुझे अब लगता है कि नियति ने ही मुझे इसके लिए चुना था। मैं एम. ए. करने के बाद पीएच.डी.

के लिए शोध विषय के चयन की समस्या से जूझ रहा था। उस समय डॉ. नगेंद्र हिंदी-विभाग के अध्यक्ष थे और उनसे बातचीत करने में विद्यार्थी डरते थे। मेरे प्रति वे कुछ उदार थे, क्योंकि मैं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण हुआ था। मैंने

आपको बताया है कि मैं जयशंकर प्रसाद का प्रेमी था और मैंने बातचीत में उनसे जयशंकर प्रसाद पर कार्य करने का प्रस्ताव किया। किंतु वे तैयार नहीं हुए। इस पर मैंने उनसे प्रेमचंद पर कार्य करने की इच्छा व्यक्त की तो उन्होंने मुझसे कुछ विषय लिखकर लाने को कहा तो मैंने प्रेमचंद पर उन्हें सोलह विषय लिख कर दिये और उन्होंने ‘प्रेमचंद के उपन्यासों का शिल्प विधान’ विषय पर अपनी स्वीकृति प्रदान की। डॉ. नगेंद्र के इस निर्णय ने मेरा भविष्य

तय कर दिया, किंतु मैं पीएच. डी. करने के बाद अन्य शोधार्थियों की तरह चुप बैठने को तैयार नहीं था।

◆ तो आपने अन्य शोधार्थियों से अलग क्या किया?

मुझे सन १९७२ में पीएच. डी की उपाधि मिली और कुछ समय बाद ही ‘प्रेमचंद : विश्वकोश’ (पांच खंड) की योजना की परिकल्पना की और प्रेमचंद के बड़े पुत्र श्रीपतराय का सहयोग लिया और प्रेमचंद की अज्ञात अप्राप्य रचनाओं, पत्रों, पांडुलिपियों, दस्तावेजों की खोज में लग गया। इसके आरंभ में गंगाप्रसाद विमल भी मेरे साथ थे, परंतु वे प्रगतिशील थे और उस समय नये-नये बने प्रगतिशील डॉ. सुधीश पचौरी ने ‘प्रगतिशील लेखक



संघ' के एक अधिवेशन में मुझ जैसे 'गाय छाप' तथा हिंदू के साथ सहयोग करने पर उनकी भर्त्सना की और कहा कि विमल को उस अपराध में 'प्रगतिशील लेखक संघ' से निकाल बाहर करना चाहिए. इस पर विमल इतने भयभीत हुए कि उन्होंने मेरा साथ छोड़ दिया. यह एक प्रकार से अच्छा ही हुआ. यदि विमल मेरे साथ रहते तो उनकी तथाकथित प्रगतिशीलता बाधक ही बनती. मैं अब पूरी तौर पर प्रेमचंद के प्रति समर्पित हो गया और मेरे मन में प्रेमचंद को लेकर तरह-तरह की कल्पनाएं जन्म लेने लगीं. इसके बाद 'प्रेमचंद : विश्वकोश' (दो खंड) सन १९८१ में छपे और जितना व्यापक उसका स्वागत हुआ, उसने तो मुझे हमेशा के लिए प्रेमचंद का बना दिया.

◆ **चलिए, अनुसंधान के लिए प्रेमचंद जी को चुन लिया पर आपने तो जीवन की हर ऋतु प्रेमचंद साहित्य को दे दी. ऐसा क्या है प्रेमचंद साहित्य में? आज कल तो इस पर बहुत से आक्षेप लगाये जा रहे हैं और कई तरह की भ्रांतियां फैलायी जा रही हैं.**

आपके इस प्रश्न का क्या उत्तर दूं? मैंने प्रेमचंद पर काम करते समय यह कभी नहीं सोचा कि मेरे जीवन की कितनी ऋतुएं, कितने वसंत व्यतीत हो गये. धुन थी तो यही कि यह काम पूरा होना चाहिए जिससे दूसरे काम पर लगूं. अब जब मैं ७२ वर्ष का हो गया हूं तो समय का, ऋतु का बोध अवश्य रहता है कि समय अब कम है और काम बहुत है. किसी भी बड़े काम में आपको अपनापन, अपना अस्तित्व एवं काल-बोध विस्मृत करना होता है. संभवतः इसे ही समाधि की दशा कहा गया है. इसमें जन्म-मृत्यु, रात-दिन आदि की चेतना विलुप्त हो जाती है और बस काम ही काम और लक्ष्य ही ध्यान में रहता है. यह स्थिति इसलिए बनी कि प्रेमचंद-साहित्य आपको अपने में लीन कर लेता है. आप प्रेमचंदमय हो जाते हैं. प्रेमचंद को जब आप उनकी दृष्टि से देखते हैं और अपने विचारों का उन पर आरोपण नहीं करते तो प्रेमचंद अपने सारे दरवाजे खोलकर आपके मन में बैठ जाते हैं फिर आप प्रत्येक वस्तु में उनकी ही छवि देखते हैं. कालिदास, तुलसीदास और प्रेमचंद का साहित्य ऐसा ही है जिसमें गहरे उतर कर ही मोती तलाश किये जा सकते हैं. जहां तक प्रेमचंद पर लगे आक्षेपों और फैलायी जाने वाली

भ्रांतियों का सवाल है, ऐसा अधिकांश बड़े लेखकों के साथ होता है. इधर अज्ञेय की जन्म शताब्दी चल रही है. हिंदी के प्रगतिशील लेखक उन्हें व्यक्तिवादी तथा अमेरिकन एजेंट कहते रहे हैं, किंतु डॉ. नामवर सिंह जैसे प्रगतिशील भी उन्हें बड़ा लेखक मान रहे हैं. प्रेमचंद पर दलित लेखक कई प्रकार के आरोप लगा रहे हैं. उन्होंने 'रंगभूमि' उपन्यास को जलाया भी, किंतु प्रेमचंद की महानता और कालजयीत्व अक्षुण्ण रहेगा. उन जैसा कोई दूसरा लेखक हिंदी में क्या, किसी भारतीय भाषा में नहीं है.

◆ **आपके प्रेमचंद संबंधी शोध कार्यों से देश-विदेश में आपको खूब प्रतिष्ठा मिली, किंतु भारत के कुछ प्रगतिशील लेखकों ने आपके कार्य की या तो उपेक्षा की है या उसकी तर्कहीन आलोचना की है. इन प्रगतिशीलों का आपके प्रति ऐसे आक्रोश तथा उपेक्षा का क्या कारण है?**

सुधा जी, आप ठीक कहती हैं कि मेरे प्रेमचंद संबंधी कार्यों की देश-विदेश में खूब प्रशंसा हुई है. भारत में जैनेंद्र, धर्मवीर भारती, प्रभाकर माचवे, चंद्रकांत वांदिवाडेकर, विष्णु कांत शास्त्री, कल्याणमल लोढा, अमृतराय, अमृतलाल नागर, इंद्रनाथ मदान, रमेश कुंतल मेघ, गोपाल राय, देवेश ठाकुर, पुष्पपाल सिंह, विनय, मृणाल पांडे और न जाने कितने लेखकों ने मेरे कार्यों पर लिखा है और विदेश में इंडिया ऑफिस लाइब्रेरी ने अपनी 'प्रेमचंद' पुस्तिका (१९८०) में, प्रो. गोविंद नारायण ने अपनी अंग्रेजी पुस्तक 'मुंशी प्रेमचंद' (१९७८) में जो अमेरिका (बोस्टन) स्थित प्रकाशन जी. के. हॉल एंड कंपनी ने प्रकाशित की थी प्रेमचंद के विशेषज्ञ के रूप में मेरा उल्लेख किया है. ध्यान रहे, तब तक मेरा 'प्रेमचंद : विश्वकोश' (१९८१) छपा नहीं था. जर्मनी के प्रो. लोथार लुत्से के आग्रह पर मेरी एक पुस्तक 'प्रेमचंद : शतरंज के खिलाड़ी' के वे सह-लेखक बने जो प्रेमचंद शताब्दी वर्ष १९८० में पूर्वोदय प्रकाशन नयी दिल्ली से छपी थी. सुधा जी, डॉ. लुत्से से मेरी भेंट कोलकत्ता में हुई थी १९७९ में और वे मेरे प्रेमचंद संबंधी कार्यों के प्रशंसक बन चुके थे. जर्मनी में हिंदी प्रोफेसर तातियाना ओरन स्केइया ने सन २००४ में मुझ पर एक लेख लिखा था जो जर्मन पत्रिका में छपा था. इटली के प्रोफेसर अमबर्टो नरदेला (नेपल्स, इटली) ने 'कफन' कहानी के अंग्रेजी अनुवादों पर एक पुस्तक इटैलियन भाषा में

लिखी. इसका प्रकाशन नेपल्स से १९९८ में हुआ और २८७ पृष्ठ की यह शोध-पुस्तक मेरे द्वारा प्रदत्त सामग्री के आधार पर लिखी गयी. मॉरिशस में अभिमन्यु अनत ने वहां के अंग्रेजी-हिंदी अखबारों एवं पत्रिकाओं में मेरे साहित्यिक कार्यों पर लेख लिखे. यह मैंने आपको एक संक्षिप्त-सा विवरण दिया है. प्रगतिशीलों के आक्रोश का एक बड़ा कारण यह भी है कि उन्होंने प्रेमचंद पर जो मार्क्सवादी एकाधिकार बनाया था, जो तथ्यहीन एवं तर्कहीन मिथक गढ़े थे, मेरे शोध निष्कर्षों से छिन्न-भिन्न हो गये. विगत कई दशकों से प्रत्येक प्रगतिशील एक ही प्रकार की व्याख्या करता था, कोई नयी बात कहने की संभावना ही समाप्त कर दी थी. ये नहीं चाहते थे कि प्रेमचंद पर कोई अप्रगतिशील काम करे और उनके भ्रामक निष्कर्षों तथा प्रेमचंद को इस्तेमाल करने की राजनीतिक साजिश को निरावृत्त करे. प्रगतिशीलों ने मेरे साथ कुछ नया नहीं किया. इन्होंने हिंदी के अनेक लेखकों का ऐसा ही चरित्र हनन तथा अपमान किया है. यहां तक कि उन्होंने डॉ. रामविलास शर्मा, त्रिलोचन शास्त्री तक को अपमानित किया और उनकी निंदा की.

◆ प्रेमचंद के बाद आपने प्रवासी साहित्य पर काम किया है. प्रवासी साहित्य पर कई पुस्तकें और 'हिंदी का प्रवासी साहित्य' ग्रंथ भी लिखा है. जिज्ञासा है कि आपका रुझान और लगाव हिंदी के प्रवासी साहित्य के प्रति कैसे हुआ?

हुआ यह कि वर्ष १९८० में प्रेमचंद जन्म-शताब्दी पर मैंने दिल्ली में 'प्रेमचंद जन्म-शताब्दी राष्ट्रीय समिति' का गठन किया. जैनेंद्र कुमार इसके अध्यक्ष और मैं महामंत्री तथा तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी इसकी संरक्षक थीं. मेरी प्रेरणा से मॉरिशस में प्रेमचंद जन्म-शताब्दी का समारोह आयोजित हुआ और भारत सरकार ने मुझे और जैनेंद्र को अपना प्रतिनिधि बना कर भेजा. मैंने मॉरिशस में प्रेमचंद के मूल दस्तावेजों, पत्रों, पांडुलिपियों, फोटोग्राफों की एक प्रदर्शनी लगायी जिसका उद्घाटन प्रधानमंत्री डॉ. शिवसागर राम गुलाम ने किया. इसी समय मेरी भेंट अभिमन्यु अनत तथा अन्य प्रतिष्ठित लेखकों से हुई. वहां मैं हिंदी लेखकों के प्रेम से इतना अभिभूत हुआ कि लौटते समय मैंने संकल्प किया कि मॉरिशस के हिंदी साहित्य के भारत में प्रचार-प्रसार तथा प्रतिष्ठा के लिए जीवन-पर्यंत

काम करता रहूंगा. उसके बाद मैं आज तक मॉरिशस, अमेरिका, इंग्लैंड, सूरीनाम, आदि देशों में भारतवांशियों द्वारा हिंदी में रचे साहित्य के प्रचार-प्रसार तथा प्रतिष्ठा के लिए निरंतर काम करता रहा हूं. हिंदी के प्रवासी साहित्य से मुझे प्रेमचंद जैसा ही प्रेम हो गया है.

◆ संभवतः आप अकेले ऐसे आलोचक और शोधकर्मी हैं जो विदेशों में रचे जा रहे हिंदी साहित्य को इतनी गंभीरता से लेते हैं. विदेशों में रचे जा रहे हिंदी साहित्य को प्रवासी साहित्य कह कर मुख्य धारा से दूर किया जा रहा है. विदेशों में हिंदी के बहुत से लेखक प्रवासी साहित्यकार कहलवाना पसंद नहीं करते. साहित्य कभी प्रवासी नहीं होता, इंसान प्रवास में रहता है. भारतवंशी सोचते हैं कि प्रवासी साहित्यकार कह कर उन्हें हाशिये पर डाला जा रहा है, उनका सही मूल्यांकन नहीं हो रहा. आपने प्रेमचंद और प्रवासी साहित्य पर अपना जीवन होम कर दिया. आप उनकी इस वेदना को कहां तक महसूस करते हैं?

यह सही है कि प्रेमचंद के बाद मैंने प्रवासी साहित्य पर विशेष कार्य किया है. हिंदी में मैं पहला लेखक हूँ जिसकी ६ पुस्तकें हिंदी के प्रवासी साहित्य पर प्रकाशित हुई हैं—'अभिमन्यु अनत : एक बातचीत' (१९८५), 'अभिमन्यु अनत : समग्र कविताएं' (१९९८), 'अभिमन्यु अनत : प्रतिनिधि रचनाएं' (१९९९), 'मॉरिशस की हिंदी कहानियां' (२०००), मॉरिशस के राष्ट्र-कवि ब्रजेंद्र कुमार भगत 'मधुकर' काव्य-रचनावली (२००३) तथा 'हिंदी का प्रवासी साहित्य' (२०११). इन छः पुस्तकों के अतिरिक्त मैंने हिंदी के प्रवासी लेखकों की लगभग तीस पुस्तकों की भूमिकाएं, अनेक लेखकों पर लेख एवं उनकी पुस्तकों की समीक्षाएं लिखी हैं. मैंने भारत से निकलने वाली पत्रिकाओं — 'साक्षात्कार', 'शब्द योग', 'राजभाषा मंजूषा', 'बुलंद-प्रभा' आदि के प्रवासी साहित्य विशेषांक निकलवाये हैं और कुछ अन्य पत्रिकाएं भी मेरी प्रेरणा पर ऐसे विशेषांक निकाल रही हैं. यह बात स्पष्ट करना चाहता हूँ कि जो विवरण मैंने आपको बताया है आत्म प्रशंसा के लिए नहीं है, बल्कि यह बताने के लिए है कि कितनी दिशाओं में प्रवासी साहित्य के विकास और उसकी प्रतिष्ठा के लिए काम हो रहा है.

◆ गोयनका जी जिस विषय पर हम बात कर रहे हैं उसकी जानकारी हमारे लिए बहुत महत्वपूर्ण है आपके विवरण को कोई अन्यथा नहीं लेगा....

अब मैं आपके प्रवासी साहित्य के नामकरण तथा उस पर कुछ प्रवासी लेखकों की आपत्ति के प्रश्न को लेता हूँ. मुझे मालूम है कि कुछ लेखकों ने यह आपत्ति उठायी है कि साहित्य प्रवासी नहीं होता और प्रवासी कहकर आरक्षण मांगना अनुचित है. मैं कई ऐसे प्रवासी साहित्यकारों को जानता हूँ जो प्रवासी संकलनों में छपते हैं, छपना चाहते हैं पर प्रवासी साहित्यकार कहलाना पसंद नहीं करते, इसके लिए बड़े-बड़े वक्तव्य देते हैं, पर यह दोहरी नीति क्यों?

यह ठीक है, साहित्य प्रवासी नहीं होता, किंतु उसका लेखक प्रवासी है और प्रवासी लेखक के रचे साहित्य को प्रवासी कहना क्यों अनुचित होना चाहिए? असल में विदेशों में भारतवंशियों द्वारा रचे साहित्य के लिए प्रवासी साहित्य इतना प्रचलित तथा लोकप्रिय हो गया है कि अब उसका प्रयोग बंद करना कठिन है. वैसे ही 'प्रवासी' शब्द इस साहित्य को हाशिये पर डालने तथा आरक्षण की सुविधा देने के लिए नहीं है. यह तो इस साहित्य की पहचान और विशिष्टता के लिए है. 'प्रवासी' शब्द लेखकों के अपमान के लिए नहीं उनके सम्मान के लिए है. उनकी अलग पहचान के लिए है और उनके स्वतंत्र मूल्यांकन की परंपरा को आरंभ करने के लिए है. हिंदी के अधिकांश प्रवासी लेखकों को उस प्रवासी शब्द पर आपत्ति नहीं है. वे अपनी विशिष्टता के साथ हिंदी की मुख्य धारा के अंग बने रहते हैं. ऐसे स्थिति में वे क्यों अपनी पहचान, अपना अस्तित्व मुख्य धारा में विलीन करना चाहेंगे?

◆ यहां मैं आपसे सहमत नहीं... हिंदी के अधिकांश भारतवंशी लेखकों को प्रवासी शब्द पर आपत्ति है. विदेशी भाषाओं में 'प्रवासी' शब्द साहित्य के लिए प्रयोग नहीं किया जाता. अंग्रेजी में किसी भी देश में बैठ कर लिखा गया साहित्य अंग्रेजी साहित्य होता है. मैं ऐसे बहुत से फ्रेंच लेखकों को जानती हूँ जो अमेरिका में बैठ कर फ्रांसीसी भाषा में लिखते हैं पर वे प्रवासी फ्रांसीसी लेखक नहीं सिर्फ फ्रेंच लेखक

लघुकथा

लघुशीघ

✍ नीता श्रीवास्तव

हम सबने अपने बचपन में दादी-नानी के मुँह से संभवतः दुनिया की सर्वप्रथम लघुकथा सुनी है... यकीनन दुनिया की पहली लघुकथा—“एक था राजा-एक थी रानी,

दोनों मर गये खत्म कहानी.”

आज वह लघुकथा याद आती है तो सोचती हूँ... राजा-रानी थे आखिर, तो मौत भी मामूली नहीं हुई होगी. दोनों शाही मौत मर गये होंगे एक बार में ही. इसीलिए राजा-रानी की कहानी भी खत्म हो गयी.

मगर आम आदमी रोज थोड़ा-थोड़ा मरता है अपनी तमाम त्रासदियों के साथ, इसीलिए आज भी ज़िंदा है आम आदमी सैकड़ों लघुकथाओं में.

✍ २९४, देवपुरी कॉलोनी, पो.
गूजरखेड़ा-महू (म. प्र.)

कहलवाये जाते हैं. हिंदी साहित्य में ऐसा क्यों है...?

सुधा जी, मैं आपकी बात से सहमत हूँ कि विदेशी भाषाओं के प्रवासी लेखकों के साहित्य को उन देशों में प्रवासी-साहित्य नहीं कहा जाता है. मेरा ज्ञान सीमित है, परंतु रूस, चीन, जापान की क्या स्थिति है कह नहीं सकता, किंतु हिंदी में प्रवासी लेखकों के साहित्य को यदि प्रवासी-साहित्य कहा जाता है तो यह हिंदी का तथा साहित्य का अपमान कैसे हो गया? हिंदी का प्रवासी साहित्य अपनी अलग पहचान चाहता है और हिंदी साहित्य की मुख्य धारा का भी अंग बने रहना चाहता है. यह ऐसे ही है, जैसे छायावाद, प्रगतिवाद, नयी कविता तथा कथा साहित्य में आंचलिक उपन्यास, नयी कहानी, सचेतन कहानी, समांतर कहानी आदि, अपनी स्वतंत्र सत्ता के साथ हिंदी साहित्य का हिस्सा बनी रहीं. प्रवासी साहित्य के रचनाकार भारत के हिंदी रचनाकारों की तुलना में भिन्न परिस्थितियों, भिन्न परिवेश तथा भिन्न संवेदनात्मक संसार में जीते हैं. उनके सम्मुख रचनात्मक दबाव तथा रचनात्मक सरोकार भी भिन्न-भिन्न हैं.

मॉरिशस के हिंदी लेखकों की पीढ़ी तो उसी देश में

जन्मी है, अतः वे अपने पूर्वजों के देश की अपेक्षा अपने देश की समस्याओं और तनावों में अधिक उलझे हुए हैं और उनकी रचनाओं में उनका देश अधिक बोलता है। वे हिंदी में लिख रहे हैं, इसलिए वे हिंदी के साहित्यिक समाज के हैं, लेकिन प्रवासी साहित्य की उनकी अलग पहचान को हम मिटा नहीं सकते। अमेरिका, इंग्लैंड आदि देशों के प्रवासी हिंदी लेखकों की पहली पीढ़ी ही रचना-कर्म में संलग्न है। ये वे भारतीय हैं जो उच्च-शिक्षा अथवा अच्छी नौकरी के लिए इन देशों में गये हैं। वहां आजीविका तथा सामाजिक जीवन अंग्रेजी भाषा से चलता है और ये रचना करते हैं अपनी मातृभाषा हिंदी में। यह स्थिति उन्हें भारत के हिंदी लेखकों से नितांत अलग बनाती है। ये चाहते तो अंग्रेजी भाषा में रचना कर सकते थे, लेकिन भाषा तथा देश-प्रेम उन्हें हिंदी भाषा की ओर ले जाता है और वे स्वदेश-परदेश के द्वंद्व में अपने रचनात्मक क्षणों को जीते हैं मनोभूमि और संवेदनात्मक संसार की सृष्टि करते हैं।

◆ गोयनका जी, अभी आपने कहा मॉरिशस के हिंदी लेखक तो क्या प्रवासी लेखकों को अमेरिका के हिंदी लेखक, इंग्लैंड के हिंदी लेखक, आस्ट्रेलिया के हिंदी लेखक नहीं कहा जा सकता। भारतवंशी भी अपने देश और मातृभूमि से उसी तरह जुड़े हुए हैं जैसे भारतवासी... देश छोड़ देने से नाता और मोह तो नहीं छूट जाता !

इस प्रवासी साहित्य में निश्चय ही नॉस्टेल्लिज्या है। अपने देश के जीवन और परिवेश से टूटकर दूसरे अनजान देश में जाकर रहने में अपनी मातृभूमि, परिवार, घर और साथियों की याद आना स्वाभाविक है। सुधा जी इस बात को मैं महसूस कर सकता हूँ कि अपना स्वदेश कितना भी अभिशप्त हो, लेकिन परदेश में वह भी प्रिय लगने लगता है। इस प्रकार प्रवासी लेखक के अंतर्मन में स्वदेश रहता है और उसका वर्तमान परदेश में जीता है। ऐसा लेखक दोहरा जीवन जीता है और इन दोहरे तनावों को, दोहरी संवेदनाओं को अपनी लेखनी से अपनी मातृभाषा में अभिव्यक्त करता है। अपने देश से निष्कासन और परदेश की स्वीकृति-अस्वीकृति में अनिश्चयता उसे और भी अंतर्द्वंद्व तथा और भी मनोवैज्ञानिक दबाव में घेर लेती है। इस दोहरी मानसिकता का साहित्य केवल प्रवासी लेखक ही लिख सकता है और यदि इस कारण उसे प्रवासी-लेखक तथा प्रवासी-साहित्य

कहा जाता है तो कुछ प्रवासी लेखकों को क्यों आपत्ति होती है। कुछ प्रवासी लेखक इस विशिष्टता को, इस नामकरण को आरक्षण देना मानते हैं किंतु मुझे ज्ञात नहीं है कि किसी प्रवासी लेखक ने आरक्षण की मांग की हो। जो स्वयं को कमजोर मानता हो या वास्तव में कमजोर हो, दुर्बल हो, अविकसित हो, वह स्वयं के लिए आरक्षण मांगता है। प्रवासी हिंदी लेखक यह तो चाहता है कि उसे पढ़ा जाये, उसकी पहचान की जाये, किंतु उसने कभी स्वयं को कमजोर एवं दुर्बल कहकर आलोचकों से आरक्षण की मांग नहीं की।

◆ गोयनका जी विदेशों में रचे जा रहे साहित्य पर एक मोहर सी लगा दी गयी है कि वह 'नॉस्टेल्लिजक' साहित्य है। आपने भी कहा कि 'इस प्रवासी साहित्य में निश्चय ही नॉस्टेल्लिज्या है।' क्या साहित्य सृजन के लिए विषयों की कोई कसौटी है? 'नॉस्टेल्लिज्या' साहित्य में वर्जित है? अगर हम हिंदी साहित्य पर विहंगम दृष्टि डालें तो बहुत सा साहित्य उसी स्थान, परिवेश और लोगों को लेकर लिखा गया है जहां से लेखक आया होता है, जहां से लेखक 'बिलॉन्ग' करता है। चाहे वह गांव छोड़कर नगर में आ जाये या नगर छोड़ कर महानगर में चला जाये। मैं साहित्य को जो थोड़ा बहुत जान पायी हूँ कि साहित्य संवेदनाओं की अभिव्यक्ति है और संवेदनाओं की कोई सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है, हां, उनको टूट कैसे किया गया है और लेखक के शिल्प और किस कुशलता से उनकी अभिव्यक्ति हुई है उसकी परख होनी चाहिए।

सुधा जी, मैंने भारतवंशियों के भारतेतर देशों में रचे साहित्य को 'नॉस्टेल्लिज्या साहित्य' नहीं कहा और उस पर न ही इसकी मोहर लगायी है। यह आरोप तो प्रगतिशील लेखक लगाकर उसकी अवमानना करना चाहते हैं। मेरा यह विचार है कि प्रवासी साहित्य में 'नॉस्टेल्लिज्या' एक प्रवृत्ति है और प्रवासी लेखकों में मिलती है, परंतु यह प्रवृत्ति तो आपको हर भाषा तथा हर देश के साहित्य में मिलेगी। मॉरिशस के महात्मा गांधी इंस्टीट्यूट में हिंदी विभाग की अध्यक्ष डा. राजरानी गोविन ने तो अपना शोध-प्रबंध हिंदी काव्य में 'नॉस्टेल्लिज्या' में ही लिखा है और वह दिल्ली विश्वविद्यालय में पीएच.डी. के लिए

स्वीकृत हुआ. हिंदी में जो आलोचक 'नॉस्टेल्लिज्या' की आलोचना करते हैं वे मनुष्य की अपनी भूमि, परिवार, अंचल, प्रकृति आदि से जुड़े रहने की प्रवृत्ति से अनभिज्ञ लगते हैं. अतः मेरा दृढ़ मत है कि साहित्य में 'नॉस्टेल्लिज्या' वर्जित नहीं हो सकता है. यह मनुष्य की मूल प्रवृत्ति है. यदि कोई कवि या लेखक 'नॉस्टेल्लिज्या' में जीवित रहता है तो हम इसी कारण उसकी आलोचना नहीं कर सकते. लेखक जब अतीत जीवी होता है तब भी वह वर्तमान से ही देखता है. इसलिए साहित्य में कोई विषय वर्जित नहीं है, इसका द्वार तो मनुष्य ही नहीं जीव-सृष्टि और ब्रह्मांड की सभी दिशाओं तक खुलता है. अब तो साहित्य में वर्जनाओं की जंजीरें टूट चुकी हैं. संस्कृत आचार्यों ने नाटक और काव्य में जो वर्जनाएं स्थापित की थीं वे सब टूट चुकी हैं.

मैं पूर्णतः आपसे सहमत हूँ कि लेखक जिस परिवेश, प्रकृति और समाज के बीच रह कर बड़ा हुआ है तथा लेखनी पकड़ी है, उसका प्रतिबिंब उसके साहित्य में अवश्य आयेगा. हिंदी में अनेक लेखक गांव से शहर में आये हैं और उनके साहित्य में गांव की सुगंध मिलेगी. लेखक अपने परिवेश और समाज में जी कर उसे ही अपनी संवेदनाओं का आधार बनाता है. इस पर भी लेखक गांव से शहर, शहर से गांव, भारत से अमेरिका आदि कहीं की भी संवेदनाओं, कथाओं, पात्रों और समस्याओं को अपने साहित्य में स्थान दे सकता है. निश्चय ही संवेदनाओं की कोई सीमा नहीं, वे सीमा रहित हैं, उनकी कोई परिधि नहीं. उन पर कोई बंधन नहीं. जहां तक परख का सवाल है, मूल्यांकन में उसका कथांचल, परिवेश के साथ उसका मंतव्य तथा अभिव्यक्ति के स्वरूप आदि सभी को देखना होगा. आलोचना एवं सही मूल्यांकन में संवेदना के साथ उसके ट्रीटमेंट दोनों को ही देखना होगा.

♦ **गोयनका जी, कहीं ऐसा तो नहीं कि पत्रिकाओं के संपादक प्रवासी विशेषण का प्रयोग पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए करते हैं?**

यह सत्य है कि विदेशों में रचा साहित्य जब हिंदी में 'प्रवासी कहानी', 'प्रवासी उपन्यास' या 'प्रवासी कविता' के रूप में आता है तो वह पाठकों का ध्यान ज़्यादा आकर्षित करता है. हिंदी समाज विदेशों में रहने वाले अपने देशवासियों के जीवन को जानना चाहते हैं, उसे

लघुकथा

अनोखा व्यापार

✍ ज्ञानदेव मुकेश

“पाकिस्तान में किस चीज़ का सबसे अधिक उत्पादन होता है?”

“आतंकवाद का.”

“पाकिस्तान को इस कार्य के लिए खाद-बीज कहां से मिलता है?”

“अमेरिका से.”

“पाकिस्तान अपने इस उत्पादन का सबसे अधिक निर्यात किस देश को करता है?”

“भारत को.”

“भारत इस आयात का भुगतान किस प्रकार करता है?”

“पाकिस्तान की तरफ दोस्ती का हाथ बढ़ाकर.”

✍ श्री आई. एन. मल्लिक का मकान,
स्टेट बैंक के पास, शिवाजी कॉलोनी,
पूर्णिया-(बिहार) ८५४३०१

समझना चाहते हैं और स्वाभाविक भी है कि उनके मन में विदेश के प्रति उत्सुकता, जिज्ञासा और ललक बढ़ती है और वह समझने लगता है कि विदेशों में सब कुछ स्वर्गतुल्य ही नहीं है. वहां का जीवन-संघर्ष कठोर, एकांत एवं काफी अनुशासित है तथा वहां डॉलर या पौंड पेड़ पर नहीं लगते. उन्हें जीवन को अर्पित करके ही पाया जा सकता है. हिंदी का प्रवासी साहित्य भारतीय पाठकों को प्रवासी जीवन की कठोर तथा भयावह वास्तविकताओं से परिचित कराता है और इसकी भी अनुभूति कराता है कि उपयुक्त ज्ञान और योग्यता से ही जीवन की उच्चता तक पहुंचा जा सकता है. वहां प्रवासी भारतीय में पश्चिम और पूर्व का जो द्वंद्व है तथा एक सर्वथा नयी संस्कृति में जीने की जो विवशता है तथा अपनी अस्मिता और अपनी पहचान खो जाने का जो भय है, वह भी हिंदी पाठकों की अनुभूति का अंग बनता है और वह अपने देश और संस्कृति के प्रति अधिक समर्पित तथा सम्मान का भाव रखता है. भारत के पाठकों के लिए प्रवासी साहित्य का यह योगदान कम नहीं है और यह तभी संभव

है जब हिंदी के प्रवासी साहित्य को प्रवासी-साहित्य के रूप में पढ़ें और समझें।

हां, आप सबको.... इस प्रवासी साहित्य में जो साहित्य है तथा जो कूड़ा-करकट है, उसकी छटाई उसी तरह से करनी चाहिए जैसे हम भारत के हिंदी साहित्य में करते हैं।

◆ जो शब्द इतनी चर्चा में है... उसका उद्भव और उद्भावक जरूर जानने की इच्छा है. आपने तो प्रवासी साहित्य पर अनगिनत पुस्तकें लिखी हैं. इस शब्द पर शोध जरूर किया होगा.

सुधा जी, मैंने इस विषय में शोध तो नहीं किया है, किंतु मेरे पास जो जानकारी है वह मैं आपको बता देता हूं. महात्मा गांधी और उस समय अनेक भारतीय उच्चशिक्षा के लिए इंग्लैंड गये थे, तब 'इमीग्रेशन' के अर्थ में 'अप्रवासी' एवं 'प्रवासी' शब्दों का प्रयोग शुरू हुआ. गांधी जब दक्षिण अफ्रीका गये और वहां लगभग १४ वर्ष तक रहे तो उन्होंने वहां के प्रवासी भारतीय के स्वाभिमान और स्वतंत्रता के लिए संघर्ष किया और तब समाचार-पत्रों तथा राजनीति में 'अप्रवासी' तथा 'प्रवासी' शब्दों का प्रयोग बार-बार होने लगा और बीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों में ये शब्द भारतीय जनमानस और समाचार-पत्रों में प्रचलित होने लगे. डॉ. कामिल बुल्के ने अपने अंग्रेज़ी-हिंदी शब्दकोष में 'इमीग्रेशन' के लिए आप्रवास तथा 'इमिग्रेंट' को 'अप्रवासी' कहा है, लेकिन अब स्थिति यह है कि हिंदी में 'अप्रवासी' और 'प्रवासी' दोनों का ही प्रयोग होता है और दोनों की अर्थ-व्यंजना में भी कोई अंतर नहीं रह गया है.

हां, भारत में उस प्रवासी संसार के प्रति जिज्ञासा और उसके दुःख-दर्द को जनता तक पहुंचने के लिए साहित्य का सहारा सबसे पहले प्रसिद्ध लेखक पं. बनारसी दास चतुर्वेदी ने लिया. कुछ संयोग ऐसा हुआ कि उनकी भेंट १५ जून १९१४ को पं. तोताराम से हुई जो २१ वर्ष फिजी में रहकर लौटे थे. चतुर्वेदी जी ने १५ दिन तक उनके संस्मरण लिखे जो सन १९१४ में ही 'फिजी द्वीप में मेरे इक्कीस वर्ष' नाम से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुए. इसके उपरांत पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'प्रवासी भारतवासी' (१९१८), 'फिजी में भारतीय' तथा 'फिजी की समस्या' पुस्तकें लिखीं और वहां के प्रवासी भारतीय मजदूरों की समस्याओं की ओर देश का ध्यान आकर्षित किया. गांधी

के भारत आगमन पर चतुर्वेदी उनके संपर्क में आये और उन्होंने गांधी से कांग्रेस का 'प्रवासी विभाग' खोलने का आग्रह किया. कांग्रेस के सन १९२२ के अधिवेशन में यह प्रस्ताव स्वीकार हुआ और इसकी कमेटी में केवल नेताओं को रखा गया. स्वाभाविक था, कांग्रेसी नेताओं की प्रवासी-संसार में कोई रुचि नहीं थी. चतुर्वेदी ने गांधी से शिकायत की तो गांधी ने उनसे कहा कि कांग्रेस वाले स्वयं तो कुछ करेंगे नहीं और न तुम्हें ही करने देंगे. आगे चलकर कलकत्ता कांग्रेस में पं. जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर 'प्रवासी विभाग' का गठन हुआ, लेकिन इस बार भी कुछ काम नहीं हुआ और चतुर्वेदी का 'प्रवासी-भवन' के निर्माण का स्वप्न साकार नहीं हुआ.

◆ आप द्वारा दी गयी जानकारी से मालूम हुआ कि स्वतंत्रता से पूर्व भी कई भारतीय लेखकों ने विदेशों में रचे जा रहे हिंदी साहित्य की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया था.

सुधा जी, यह वह समय था, जब 'चांद', 'मर्यादा', 'माधुरी' आदि हिंदी पत्रिकाओं में मॉरिशस, फिजी आदि देशों में गये भारतीय मजदूरों के जीवन के बारे में यदाकदा लेख छपते रहते थे. 'चांद' मासिक पत्रिका ने अपना जनवरी, १९२६ का अंक 'प्रवासी अंक' के नाम से प्रकाशित किया और इसमें मॉरिशस के प्रवासी भारतीय मजदूरों के यातनामय जीवन पर प्रेमचंद की कहानी 'शूद्रा' प्रकाशित हुई जो भारत के प्रवासियों पर लिखी गयी हिंदी की पहली कहानी थी. 'चांद' के इस अंक से तथा प्रेमचंद जैसे विख्यात कहानीकार की कहानी छपने से प्रवासियों को मुख्यधारा में लाने की चेष्टा की गयी, किंतु ऐसा प्रतीत होता है कि देश के स्वाधीनता संग्राम आंदोलन, दूसरे विश्व-युद्ध, गांधी के 'करो या मरो' आंदोलन, देश के विभाजन आदि में प्रवासी-संसार कहीं खो गया और काफी समय तक अदृश्य बना रहा. सन १९६८ में मॉरिशस स्वतंत्र हुआ तो लेखकों एवं जनता का उसके प्रति आकर्षण बढ़ा और जब कैप्टन भगवान सिंह फिजी में भारत के राजदूत बने तो फिजी से संपर्क बढ़ा. इसी प्रकार इंग्लैंड में डॉ. लक्ष्मीमल्ल सिंघवी के उच्चायुक्त बनने पर वहां के प्रवासी हिंदी साहित्य के विकास का नया युग शुरू हुआ. भारत सरकार ने डॉ. सिंघवी को प्रवासी भारतीयों की समस्याओं को हल करने के लिए एक उच्च

स्तरीय समिति का अध्यक्ष बनाया और उन्होंने 'डायस्पोरा रिपोर्ट' प्रस्तुत की. इस रिपोर्ट को सरकार ने स्वीकार किया और ९-१० जनवरी, २००३ को पहला 'प्रवासी भारतीय दिवस' आयोजित किया और इस प्रकार स्वतंत्रता के ५५ वर्ष के बाद भारतीय प्रवासियों के साथ प्रवासी साहित्य एवं संस्कृति के प्रति देश में नयी चेतना, नयी प्रतिबद्धता और एक नयी संवेदना का उदय हुआ.

◆ निष्कर्ष यह निकला कि 'प्रवासी-साहित्य' के उद्भव और विकास में गांधी जी, बनारसीदास चतुर्वेदी, लक्ष्मीमल्ल सिंघवी जैसे महान व्यक्ति और 'चांद' पत्रिकाएं आदि रहे हैं.

और मेरी बात का यकीन कीजिए... इसके पीछे कोई साजिश, छल-कपट नहीं. किन्हीं लेखकों को प्रतिष्ठित करने तथा कुछ को हाशिये पर डालने के लिए यह नहीं हुआ था. प्रवासी हिंदी साहित्य समय की आवश्यकता थी. गांधी प्रवासी भारतीयों के दुःख-दर्द से मुक्ति की लड़ाई लड़ रहे थे और मॉरिशस में सूर्यप्रसाद मंगर भगत, विष्णु दयाल, मधुकर, बखोरी आदि की एक पूरी पीढ़ी हिंदी में साहित्य-रचना में प्रवृत्त हो रही थी. अभिमन्यु अनत की औपन्यासिक, कविता, नाटक आदि की कृतियों के निरंतर प्रकाशित होने से भारत में प्रवासियों के प्रति उत्सुकता और पठनीयता में तीव्रता आयी और फिर अमेरिका, इंग्लैंड के हिंदी लेखकों की कृतियों और पत्रिकाओं के प्रकाशन से इसकी गति में वृद्धि हुई और अब 'प्रवासी साहित्य' हिंदी की एक वास्तविकता बन गया है.

अब २१वीं सदी में मॉरिशस के साथ अमेरिका, कैंनेडा, इंग्लैंड, नार्वे, नीदरलैंड, आबू धाबी आदि देश भी साहित्य की रचना में प्रमुख रूप से शामिल हो गये हैं. विदेशों में लिखे जा रहे हिंदी साहित्य का विस्तार हो रहा है. इसका एक संसार बन चुका है, बस उसमें अब नयी पीढ़ी को लाने की आवश्यकता है. हिंदी के इस साहित्य का रंगरूप, उसकी चेतना, संवेदना एवं सृजन प्रक्रिया भारत के हिंदी पाठकों के लिए एक नयी वस्तु है, एक नये भावबोध एवं नये सरोकार का साहित्य है. एक नयी व्याकुलता, बेचैनी तथा एक नये अस्तित्व बोध व आत्मबोध का साहित्य है जो हिंदी साहित्य को अपनी मौलिकता एवं नये साहित्य संसार से समृद्ध करता है. विदेशों में रहने

ग़ज़ल

✍ तारकेधर शर्मा

भानु है अपनी ग़ज़ल, महताब है अपनी ग़ज़ल ।
क्रोध में यह ताप-सी, हठजात है अपनी ग़ज़ल ॥
है कहीं ममता बनी तो है कहीं जड़ता बनी ।
थरथराते मेघ की आवाज़ है अपनी ग़ज़ल ॥
जान भी है, शान भी है, काल की पहचान भी ।
दिव्य आभा भानु की अरमान है अपनी ग़ज़ल ॥
माधुरी है, मालिनी है, मालिया अपनी ग़ज़ल ।
दीपिका हर राह की पहचान है अपनी ग़ज़ल ॥
बहर के हर रुक्न पर यह शाश्वत चलती रही ।
आजमाना है कठिन पर आगाज़ है अपनी ग़ज़ल ॥
है कहीं यह शारदा तो है कहीं यह कालिका ।
भागवत-गीता कहीं, कुरआन है अपनी ग़ज़ल ॥
साध्वी तो है नहीं, पर साधिका अपनी ग़ज़ल ।
राधिका है, रुक्मिणी है, आधार है अपनी ग़ज़ल ॥

✉ मंडल रेल प्रबंधक कार्यालय,
दक्षिण पूर्व रेलवे, खड़गपुर,
पोस्ट : खड़गपुर-७२१३०१.

वाले हिंदी के साहित्यकार अपने देश के प्रति अधिक सजग एवं समर्पित हैं. इस साहित्य में एक ऐसी भारतीयता है जो स्वदेश-परदेश के द्वंद से जन्म लेती है और एक नया परिवेश, एक नयी जीवन दृष्टि तथा जीवन जीने का नया सरोकार देती है. यह साहित्य हिंदी की मुख्य धारा का अंग है और अपनी पहचान भी रखता है.

✉ ए-९८, अशोक विहार, फेज़-१,
दिल्ली-११००५२.
फ़ोन : ९८११०५२४६९

डॉ. सुधा ओम ढींगरा

101, Guymon Ct.,
Morrisville, NC-27560 USA.
(R)-919-678-9056, (M)-919-801-0672
e-mail : sudhadrishti@gmail.com



एक भीला भाला शायर- संवाद लेखक सुदर्शन फ़ाकिर

सविता बजाज

(साहित्य और फ़िल्म का चोली दामन का साथ है. हमारे विशेष अनुरोध पर जानी मानी फ़िल्म, टी.वी., मंच कलाकार व पत्रकार सुश्री सविता बजाज 'कथाबिंब' के लिए चलचित्र जगत से संबद्ध साहित्यकारों के साथ बिताये क्षणों को संस्मरण के रूप में प्रस्तुत कर रही हैं.

अगले अंकों में पढ़िए नक्शा लायलपुरी, चाचा चौधरी आदि के बारे में.)



पाठकों मैं अपने गुजरे हुए ज़माने की बातें कर रही हूं. वह ज़माना जो कभी लौट कर नहीं आता. बस यादें ही तो रह जाती हैं जो कभी टीस पैदा करती हैं शायद इसीलिए शायर का एक गीत याद आता है, 'गुजरा हुआ ज़माना आता नहीं दोबारा, हाफ़िज़ खुदा तुम्हारा.'

मैं बंबई में आने से पहले दिल्ली में बहुत से साहित्यकारों को जानती थी जैसे रजिंदर सिंह बेदी, अमृता प्रीतम वगैरह. कइयों को तो सिर्फ़ पढ़ा था और पढ़ते-पढ़ते उनकी दीवानी हो गयी. बंबई में एक जवां लड़की के लिए फ़िल्मों में काम पाना लोहे के चने चबाने जैसी बात थी. हां दाना तो हर नयी मुर्गी के सामने मर्द लोग फेंकते ही हैं लेकिन मैं दाना चुगने की बजाय लेखन (धर्मयुग, माधुरी वगैरह), रंगमंच, दूरदर्शन, रेडियो, फ़िल्म डिवीजन से जुड़ गयी और साथ ही साथ सेवन आर्ट्स एंड एजेन्सी जो वली में थी, के साथ भी जुड़कर लेखन करती और अपनी आवाज़ में रिकॉर्ड करती. वहां मेरे दो साथी और भी थे, रवि मलिक (एन. एफ़. डी. सी. वाला) और मशहूर शायर, संवाद, लेखक सुदर्शन फ़ाकिर.

सुदर्शन के बारे में मैंने कभी नहीं सुना था. वह अक्सर मुझसे मेरे बारे में जानकारी चाहता लेकिन अपने बारे में कुछ नहीं बताता था लेकिन लोगों से पता चला सुदर्शन जालंधर से आया था. थियेटर, रेडियो, फ़िल्मों का नामी उर्दू शायर था, सांताक्रुज़ के एक गेस्ट हाउस में रहता था. वह कभी-कभी बताता कि मोहन राकेश के नाटक 'आषाढ़ का एक दिन' का निर्देशन किया था तो मैं चौंकी— अरे भाई थियेटर में मेरी पहचान भी 'लहरों के

राजहंस' से हुई. अल्का का पात्र निभाया था और मोहन राकेश को जानती थी. पहली फ़िल्म 'उसकी रोटी' भी मोहन राकेश ने लिखी थी. बस इसी बात पर हमारी जानकारी एक दूसरे के प्रति बढ़ती गयी. जगजीत सिंह के फ़ोन आते तो मैं दोनों की बातें बड़े चाव से सुनती.

सुदर्शन ने कई फ़िल्मों के संवाद भी लिखे थे. जगजीत सिंह के साथ वह अक्सर प्रोग्राम देने चला जाता तो कहता — बहना, रवि के साथ काम संभाल लेना. बंबई और जालंधर के दौरे ज़्यादा लगते. कभी कहता — बेगम अख़्तर मेरी लिखी गज़लें गाती हैं तो मैं ख़ूब हंसती — सुदर्शन तुम बहुत फेंकते हो, बस करो. तो कहता भाई लोगों से पूछ लो. अगर फिर भी यकीन न हो तो एच. एम. वी. जाओ, रिकॉर्ड ख़रीदो जिस पर कुत्ता बना होता है, मेरा नाम दिखेगा. सचमुच सुदर्शन ने ठीक कहा था. धीरे-धीरे सुदर्शन के साथ काम करते-करते मैं एक भाई को समझने लगी थी कि कहीं कुछ बहुत पहले या तो बिखर चुका था, या फिर टूट चुका था. इसीलिए यह कभी शौहरत और पैसे की बात नहीं करता था. उसे इन बातों में कोई रस न था. बेगम अख़्तर को याद करके कभी कभी रो देता — सविता, वह औरत मेरी मां जैसी थी. इंसानियत से लबालब. मैं कभी-कभी उसे तंग भी करती. सुदर्शन तुम कहीं से भी शायर नहीं लगते. अरे भाई दाढ़ी मूछ उगाओ, लंबा कुर्ता पहनो, कंधे पर झोला लटकाओ तो जानूं. मेरी बातें सुनकर ख़ूब हंसता. कहता — मरजानी हमेशा मेरी खिंचाई करती है, नहीं रहूंगा तो किससे लड़ेगी और मैं उसके मुंह पर हाथ रख कहती —

भइया मेरे बस, मरें तेरे दुश्मन.

एक दिन सुदर्शन बड़ा चुप सा था, उदास सिगरेट फूँके जा रहा था. मैं बोली — क्या हुआ, किसने काट खाया! सोचता हूँ एक बोट खरीद उसमें एक छेद करके एक बड़ा सा पत्थर अपने पेट पर बांध लूँ. खूब दारू पीकर उसमें लुढ़क जाऊँ. मुझे ताव आ गया. सुदर्शन मरने मारने की बातें छोड़ो, कुछ काम करो. बहुत आलसी हो. सुबह से दो बार जगजीत सिंह का फ़ोन आ चुका है, रिकॉर्डिंग करवानी है उन्हें.

समय का पहिया घूमा, मैं फ़िल्मों में बहुत बिज़ी हो गयी, एड एजेन्सी छूट गयी. सुदर्शन से मिलना दूर की बात हो गयी. हाँ, एक बार वह मुझसे बांद्रा स्टेशन पर टकराया था. अपने छोटे से बेटे की उंगली पकड़े बीवी के साथ कहीं जा रहा था. परिचय करवाया पत्नी से लेकिन सुदर्शन पहले वाला न था. मैं उसे दूर तक जाते देखती रही. उसने पीछे मुड़कर भी न देखा.

सुना, सुदर्शन बीमार रहता है. गेस्ट हाउस पहुंची लेकिन बार-बार चक्कर लगाने के बावजूद भइया से मिलना न हुआ. फिर एक दिन सुना सुदर्शन नहीं रहा. सचमुच सुदर्शन एक न भूलने वाली दास्तां बनकर रह गया. ढेरों काम करने के बाद भी न अपना हक मांगा और न मेहनताना. फ़कीर की तरह जिंदगी बसर कर दी. अपने पराये सबने उसका शोषण किया, इस बात का भी उसे मलाल था. शायद इसीलिए वह दारू पीकर नाव में मरने की बात करता था.

आज जब भी सुदर्शन का कलाम जगजीत जी की आवाज़ में सुनती हूँ तो बहुत रोना आता है.

**‘वह कागज़ की कश्ती,
वह बारिश का पानी...’**

मैं तो उस भोले, भाले इंसान की तो खूब खिंचाई करती थी और वह भी चिढ़ता न था, बल्कि मुझे भी अपने स्नेह से लबालब कर कहता — मरजानी, भाई की खिंचाई करती है. उसे भी यह सब अच्छा लगता था. हम दोनों बहन-भाई के प्यार से वंचित, अपनेपन से शायद वंचित थे.

एक दिन बोला भी था — सविता, मुझे राखी नहीं बांधेगी. तो मैं बोली थी — नहीं मैं किसी को इस रिश्ते में नहीं बांधती, निभाना मुश्किल होता है. तो वह बोला

गाज़ल

डॉ. वी. पी. दुबे

जिंदगी से जब मिला तो जिंदगी अच्छी लगी,
बंदगी दिल से जो की तो बंदगी अच्छी लगी ।
अब तो शहरों में जवानी हो गयी है बेहया,
गांवों के पनघट की वह शरमिंदगी अच्छी लगी ।
स्वच्छ झरने सा मधुर किरदार था आवाज़ में,
सादगी को क्या कहें वह सादगी अच्छी लगी ।
दिख रहा था दूर से वह जैसे आवारा फ़कीर,
जब हुआ परिचय तो वह आवारगी अच्छी लगी ।
मिल गया उनको सरोवर जो गये गहराई में,
तिशनी का शुक्रिया वह तिशनी अच्छी लगी ।
उनकी तलखी उनके तेवर देख मैं सकते में था,
उनकी नज़रों ने जो दी परवानगी अच्छी लगी ।

☞ **होटल संगम के सामने, चौराहा,
५ सिविल लाइन्स,
सागर (म. प्र.)- ४७०००१.**

था — नहीं रहूंगा, तब इस रिश्ते को समझेगी. सचमुच सुदर्शन ने मुझे बहुत स्नेह दिया.

आज बरसों बाद फिर तुम्हारा लिखा कलाम सुन रही हूँ. जगजीत सिंह की आवाज़ में-

**‘वह कागज़ की कश्ती,
वह बारिश का पानी...’**

भइया मेरे तुम कहां हो? बहुत जल्दी साथ छोड़ गये. तुम्हारे जाने के बाद समझ में आया भाई का स्नेह क्या मायने रखता है. काश! मैं तुम्हें राखी बांध देती, काश! काश! काश!

☞ **पो. बॉक्स-१९७४३,
जयराज नगर,**

**बोरिवली (प.), मुंबई-४०००९१
फ़ोन : ९२२३२०६३५६**

□□□



‘भारत रत्न’ कैसे और कैसे ?

डॉ. वी. रामशेष

“इकॉनमिक टाइम्स” फरवरी २०११ में छपा एक लेख ‘नो जेम्स इन लिटरेचर को पढ़कर मुझे बहुत दुःख हुआ और साथ में आश्चर्य भी कि साहित्य की दुनियां के हमारे देश में एक भी योग्य व्यक्ति लेखक या कवि नहीं हुआ?

आजकल कोहराम मचा हुआ है कि सचिन तेंदुलकर को ‘भारत रत्न’ देना चाहिए. वैसे सचिन भारत के महान क्रिकेट खिलाड़ी हैं. उनके नाम बहुत से कीर्तिमान हैं. उन्होंने क्रिकेट में भारत का स्थान बहुत ऊंचा कर दिया है. सभी इस बात से चिंतित हैं कि इतने महान रत्न को भारत रत्न क्यों नहीं? लेकिन किसी को इस बात पर दुख नहीं हुआ है कि किसी भी साहित्यकार को अभी तक भारत रत्न नहीं मिला है. मिलने की बात तो दूर किसी ने इस बारे में पहल तक नहीं की.

१९५४ में जब भारत रत्न का पुरस्कार स्थापित किया गया था. भारत सरकार की अधिसूचना थी कि भारत रत्न उनको दिया जायेगा जिन्होंने कला, साहित्य, विज्ञान के क्षेत्र में अतुलनीय कार्य किया हो या जनसेवा से देश को लाभ पहुंचाया हो. परंतु १९७१ तक किसी कलाकार को यह पुरस्कार नहीं दिया गया.

१९९२ में फ़िल्म जगत के महान कलाकार ‘श्री सत्यजीत राय’ को यह पुरस्कार दिया गया मरणोपरांत और वह भी सरकार को मजबूरन यह क़दम उठाना पड़ा जब उनको ऑस्कर पुरस्कार दिया गया. इसके ६ वर्ष बाद १९९८ में सुप्रसिद्ध कर्नाटक गायिका एम. एस. सुब्बु लक्ष्मी को दिया गया और फिर २००१ में श्री भीम सेन जोशी को मिला.

अगर भारत रत्न पाने वालों की सूची को गहराई से देखा जाये तो एक बात उभर कर आती है कि अधिकतम पुरस्कार राजनीतिज्ञों को दिया जाता रहा है. डॉ. राधाकृष्णन को १९५४ में जो एक दार्शनिक भी थे और उसके उपरांत श्री राजगोपालाचारी को जो एक महान राजनीतिज्ञ थे तथा धार्मिक लेखक भी.

१९७० के उपरांत भारत रत्न अजीब परिस्थितियों में दिया जाने लगा जब यह मरणोपरांत श्री के. कामकाज को दिया गया. संभवतः तामिल जनता को प्रसन्न करने के लिए इंदिरा गांधी ने यह क़दम उठाया. इसी परिपाटी को आगे बढ़ाते हुए श्री राजीव गांधी ने यह उपहार इन्हीं कारणों से एम. जी. रामचंद्रन को दिया. श्री वी. पी. सिंह ने दलितों को जीतने के लिए ३४ वर्ष मरणोपरांत यह पुरस्कार श्री बाबासाहेब अंबेडकर को दिया.

‘भारत रत्न’ पुरस्कार की प्रक्रिया प्रधानमंत्री द्वारा राष्ट्रपति को सिफारिश पर की जाती है तो क्या पं. नेहरू ने अपनी सिफारिश राष्ट्रपति राजेंद्र प्रसाद से की? जो भी हो किसी कलाकार लेखक/कवि का नाम नहीं भेजा दिखता है.

लेखकों की दुनियां देखेंगे तो भारत में तमाम प्रसिद्ध लेखकों ने देश का नाम रोशन किया है. कुछ के नाम इस प्रकार हैं : सूर्यकांत त्रिपाठी ‘निराला’, सुमित्रानंदन पंत, महादेवी वर्मा, मस्ती वेंकटेश अयंगर, तक.जी शिवशंकर पिल्लै, आशापूर्णा देवी, जैनंद्र कुमार: अली सरदार जाफ़री इत्यादि.

क्या उपर्युक्त महान कलाकारों में एक भी भारत रत्न पुरस्कार पाने के काबिल नहीं था? राजनीतिज्ञों को उक्त प्रश्न का उत्तर देना चाहिए.

बी.एन.२/४३, केंद्रीय विहार, सेक्टर-११, खारघर, नवी मुंबई-४१०२१०

पाठकों/ग्राहकों से निवेदन

कृपया ‘कथाबिंब’ की सदस्यता राशि मनी ऑर्डर से भेजते समय, मनी ऑर्डर फॉर्म पर ‘संदेश के स्थान’ पर अपना नाम, पता, पिन कोड सहित साफ-साफ लिखें. मनीऑर्डर भेजने के बाद पोस्टकार्ड पर पूरे पते सहित इसकी सूचना अवश्य दें. आपकी सदस्यता अगले अंक से लागू होगी. पते में परिवर्तन की सूचना भेजते समय कृपया नये पते के साथ पुराने पते का उल्लेख करना न भूलें.

नारी देह पर हमलों के विरुद्ध

डॉ. सतीश दुबे

भूभल (उपन्यास) : मीनाक्षी स्वामी

प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, दिल्ली-११०००६;

मू. ३६०/- रु.

मीनाक्षी स्वामी दक्ष रचनाकार और समाजशास्त्री हैं। उनके उपन्यास 'भूभल' में समाज का कड़वा सत्य कलात्मकता के साथ उजागर हुआ है। उपन्यास का मूल कथानक न्याय व्यवस्था की वे विसंगतियां हैं जिनके चलते निर्दोष सजा पाता है और दोषी सिर ऊंचा करके चलता है। मीनाक्षी ने समग्र परिस्थितियों का आकलन कर, कथानक को व्यापक आयाम देते हुए स्त्री चेतना की लौ को सामाजिक चेतना की लपट में कुशलता से रूपांतरित करते हुए विसंगतियों के भयावह जंगल को समाप्त करने का सफल प्रयास किया है।

विगत कुछ वर्षों में नारी ने अपने बुद्धि चातुर्य का परिचय देते हुए विभिन्न क्षेत्रों में उपलब्धियों के शिखर तक पहुंचकर यह साबित कर दिया है कि वे पुरुषों की तुलना में कमतर नहीं हैं। इसे अजीब विरोधाभास ही माना जाना चाहिए कि इसके बावजूद नारियां विभिन्न स्तरों पर प्रताड़ना, शोषण और अत्याचार की गिरफ्त में हैं। इनमें सर्वाधिक धिनौना कृत्य है उसकी अस्मिता पर हमले। इसे प्रचलित भाषा में बलात्कार की संज्ञा दी जाती है। यह आंखें चौड़ी कर देने वाला कटु सत्य है कि विगत पच्चीस-तीस वर्षों से नारी की देह को नोचने के लिए जो पुरुषिया गिद्ध हमले हो रहे हैं, उन्होंने हमारी 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते' की संस्कृति को शर्मसार कर मटियामेट कर दिया है।

समाज में व्याप्त पुरुष की इसी क्रूर तथा स्त्री प्रताड़नाजन्य मानसिकता के इर्द-गिर्द कथाकार मीनाक्षी स्वामी ने उपन्यास 'भूभल' की रचना है। 'भूभल' का अर्थ है — गर्म राख जिसे निरंतर प्रज्ज्वलित रखने के लिए उपला दबा दिया जाता है। इसे हवा देकर कभी भी लौ बनाया जा सकता है। इस लाक्षणिक शब्द के माध्यम से मीनाक्षी यह संकेत देती हैं कि समाज की विकृत सोच के

विरुद्ध संघर्ष की आग निरंतर प्रज्ज्वलित रहना चाहिए। निसंदेह बदलाव के लिए ज़रूरी है कि सामाजिक विसंगति रूपी फ़ौलाद को मन मुताबिक आकार देने के लिए चोट की जाती रहे।

उपन्यास की कथावस्तु सर्वव्यापी है किंतु लेखिका ने अपने चिरपरिचित भूभाग के केंद्र में संपूर्ण ताना-बाना बुना है। मालवा के परिवेश में समेटे गये उपन्यास का विस्तार मालवांचल के नगरों, गांवों, क़स्बों में हुआ है। इन छोटे-बड़े शहरों को कथानक के लिए चुनते हुए लेखिका की मंशा रही हो सकती है कि नारी पर बलात दैहिक अनाचार का यह सिलसिला महानगरों में ही नहीं गांव-खेड़ों तक फैला हुआ है।

उपन्यास की नायिका कंचन के चरित्र का विकास अपनी ही सोच के गुलमोहर के अंगार से लाल फूलों के प्रति स्वाभाविक झुकाव, परिवार व बाहरी वातावरण में स्त्री-पुरुष के बीच व्याप्त असमानता या विद्रूप स्थितियों का विरोध आरंभ से ही पाठकों के आकर्षण का केंद्र बन जाता है। शिक्षा काल समाप्त होने पर उसके न्यायाधीश के रूप में चयन के साथ ही उसके जीवन में मोड़ आता है। विशेष महिला न्यायालय का दायित्व मिलने पर उसे लगता है कि कुछ कर गुज़रने का मनचीता क्षेत्र मिल गया है। उसके इजलास में सुदूर गांवों, क़स्बों, नगर से विभिन्न किस्म के बलात्कार संबंधी प्रकरण आते हैं। मगर न्यायाधीश की कुर्सी पर बैठकर भी न्याय व्यवस्थाओं की कमियों, दोषों, विरोधाभासों के चलते वह हर बार मात खाती है। "उसे लगता है यह विशेष अदालत भी मर्दों की है। पूरा केस तो वकीलों पर निर्भर होता है और कानून से बंधे न्यायाधीश, सिस्टम का एक पुर्जा बनकर रह जाते हैं, जो न्याय नहीं सिर्फ़ निर्णय देते हैं।"

लचर न्याय व्यवस्था हर बार पाठक को झकझोर कर रख देती है। न्याय के लिए कंचन को न्यायालय से बाहर दूसरी लड़ाई लड़ना पड़ता है। इस लड़ाई में अकेली स्त्री नहीं समूचे समाज को वह अपने साथ जोड़ती है। समूचे समाज में जन सामान्य के साथ विभिन्न सामाजिक संगठन आदि का सहयोग होता है। और यूँ छोटी सी चिंगारी ज्वाला बनकर पूरे देश में फैल जाती है।



समग्रता में 'भूभल' एक ऐसा दस्तावेज़ है जो जनचेतना, जनशक्ति से सामाजिक क्रांति का विश्वास जगाता है, शंखनाद करता है. "कोमल और नन्हीं बूंदें जब संगठित होती हैं तो चट्टानों को भी काटकर रख देती हैं." "जनमत ने दांतों तले उंगली दबा ली. इतनी ताकत है उसमें और वही अनभिज्ञ था अपनी ताकत से."

'भूभल' साहसिक, विचारोत्तेजक और मार्मिक उपन्यास है. इसकी विषय वस्तु बिल्कुल नयी है और प्रस्तुतीकरण अदभुत. भाषा का प्रवाह और कथ्य के प्रति जिज्ञासा पाठक को बांध लेती है. कथावस्तु की बुनावट इतनी रोचक और प्रवाहमय है कि पाठक एक बार आरंभ करने के बाद पूरा करके ही विश्राम कर पाता है. मीनाक्षी स्वामी ने इसे बुनते हुए जिस कौशल का परिचय दिया है, वह प्रशंसनीय है. खासकर गुलमोहर का बिंब उपन्यास के कला पक्ष को नया आयाम देता है. 'बलात्कार' जैसे विषय पर महिला रचनाकार का लिखना मर्यादाओं की अग्निपरीक्षा से गुजरने जैसा जोखिम भरा कार्य है. मीनाक्षी स्वामी इस खतरे का मुकाबला कर उसमें सफल हुई हैं. उल्लेखनीय है कि उपन्यास में स्त्री पर बलात्कार के किस्सों का प्रसंगवश जिक्र तो है किंतु चटखारे लेने वाला अश्लील वर्णन नहीं. दैहिक स्वतंत्रता, नारी अस्मिता से जुड़ा अहम प्रश्न है. इसके उत्तर मीनाक्षी स्वामी ने समाज के हर वर्ग और व्यवस्था से चाहे हैं. ज़रूरी है कि उनके उत्तर तलाशने के लिए उपन्यास 'भूभल' को गौर से पढ़ा जाये.

रचनाकार का धर्म है सत्य की ओर संकेत करके पाठक के विचारों को उत्तेजित करना. उसके मन में आक्रोश पैदा करना. तभी सामाजिक विसंगतियों और विद्रूपताओं की ओर उसका ध्यान आकर्षित होगा. तभी वह उठ खड़ा होगा अत्याचारी, अन्यायी व्यवस्था के प्रतिकार के लिए. इस दृष्टि से मीनाक्षी स्वामी ने इस उपन्यास में अपनी

रचनाधर्मिता का निर्वाह ईमानदारी और विश्वसनीयता से किया है. यही कारण है कि पीड़ित और बेबस स्त्रियों की कराहें मन-मस्तिष्क में अंकित हो जाती हैं.

७६६, सुदामा नगर, इंदौर-४५२००९

अच्छी तमन्नाओं का प्रदर्शन

राजेंद्र आहुति

रोशनी कैद हुई कातिलों की मुट्टी में (ग. सं.) :

प्रकाश श्रीवास्तव

प्रकाशक : संजय बुक सेंटर, के.३८/६, गोलघर, वाराणसी-२२१००९. मू. १२५/- रु.

समग्र रूप में 'रोशनी कैद हुई कातिलों की मुट्टी में' ग़ज़लकार प्रकाश श्रीवास्तव का प्रथम ग़ज़ल संग्रह है. ग़ज़ल का अर्थ सिर्फ़ मोहब्बत नहीं होता है. ग़ज़ल एक विचार है, ऐसा विचार जिसकी प्रक्रिया निरंतर जारी रहती है. किसी भी विषय या मुद्दे को एक संवेदनशील रचनाकार खास नजरिये से देखता है, देखते-देखते समझता है और बस ग़ज़ल कह उठता है :-

तुम हो अगर सवाल मुक्कमल जवाब हूं,
तुम हो अगर खराब मैं बहुत खराब हूं.
ये 'पद्मश्री' बचाये रखो काम आयेगी,
मैं आदमी हूं आप ही अपना खिताब हूं.

आज आदमी बने रहना कठिन होता जा रहा है. हम पद और पदवी के लिए कुछ भी कर गुजरने से पूर्व तनिक भी ऊंच-नीच का विचार नहीं करते. कुछ भी स्वीकार कर लेने की विवशता में ग़ज़लकार कह उठता है :-

'वो पत्थर को तो गंगा जल दे रहा है,
और इंसानियत को कुचल दे रहा है.

छपते-छपते

2 अक्टूबर 2011 को "कथाबिंब" की लेखिका, लब्ध प्रतिष्ठित कथाकार डॉ. स्वाति तिवारी को मध्य प्रदेश राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के वार्षिक आयोजन में श्रीमती प्रकाश कुमारी हरकावत नारी लेखन पुरस्कार से सम्मानित किया गया. इस सम्मान के तहत राज्यपाल श्री रामनरेश यादव ने पांच हजार रु. की राशि, स्मृति चिन्ह व सम्मान पत्र भेंट किया.

इससे पूर्व, हिंदी दिवस के अवसर पर 14 सितंबर 2011 को दिल्ली में डॉ. तिवारी को राष्ट्रीय मानव अधिकार आयोग द्वारा द्वितीय पुरस्कार से सम्मानित किया गया. 40 हजार रुपये की पुरस्कार राशि आयोग के अध्यक्ष न्यायमूर्ति श्री के. जी. बालाकृष्णन द्वारा प्रदान की गयी. "कथाबिंब" परिवार की ओर से डॉ. स्वाति तिवारी को बधाई.

अमीरों की टेबुल सजाने की खातिर,
गरीबों को मछली सा तल दे रहा है.
'प्रकाश' उस पे कैसे भरोसा करे जो,
सुबह-शाम में दल बदल दे रहा है.
तरसता मिला दाने-दाने को लोगों,
जो मेहनत से सबको फसल दे रहा है.

आज किसानों की स्थिति क्या है? वह अपनी
ज़रूरतों के लिए कर्जदार हो रहा है, लाठियां खा रहा है.
असहायता का ही रुख चारों तरफ़ देख आत्महत्या कर
रहा है और आका लोग चैन की बांसुरी बजा रहे हैं, कुर्सियाँ
बचा रहे हैं. एक जगह प्रकाश कहते हैं :-

जगह-जगह राजनीति भाषण है ज़िंदगी,
कोटा भर झोले में राशन है ज़िंदगी.
अपनों में दर्दों का प्रत्यावर्तन लिये,
बोझिल संदर्भों का दरपन है ज़िंदगी.
फूस की मड़इयों के लिए सिर्फ़ पतझर है,
महलों के लिए सिर्फ़ सावन है ज़िंदगी.

ज़िंदगी सच में क्या है? इसकी सही परिभाषा नहीं
है. आसान नहीं है बता पाना. सभी के पास ज़िंदगी की
अपनी परिभाषा है. मगर प्रकाश जी कहते हैं यह ज़मीन
किस तरह बनी है, क्रदम-क्रदम पर नागफनी है तो एक
नज़र में यह सच है. मगर पूर्णतः सच नहीं है क्योंकि
इसमें खुशियां हैं, कहकहे हैं, हंसी है और हैं कई तरह
के आनंद भी, भले ही आनंद लाख दुःखों के बाद क्यों
न आये. हर आदमी रोते हुए जीवन में हंसता भी है.

हमारी सबसे बड़ी कमज़ोरी यह है कि हमारी सोच
हर समय, हर दिशा में सकारात्मक की जगह नकारात्मक
ही होती आयी है, तभी तो प्रकाश जी कहते हैं — 'रो
रहे हैं हम सभी पर आप हंसते जा रहे, वाह साहब! आप
भी कितने बड़े फनकार हैं.' श्री गणेश प्रसाद गंभीर ने पूरे
संग्रह पर अपने सूक्ष्म निरीक्षण का परिचय दिया है. पृष्ठ
५४ पर छपी ग़ज़ल की अंतिम पंक्ति है — 'मेरी कविता
मेरी कला है, मेरी पूजा है. 'प्रकाश' किसलिए मस्जिद या
शिवाला जाये.' यह पंक्ति सेकुलर मानसिकता की उपज
है और सवाल भी है कि सबसे बड़ा धर्म क्या है? सबसे
बड़ा धर्म है कविता, जिसके निर्माण के रास्ते में देवता
वास करते हैं. ये मंदिर और मस्जिद तो बहाने हैं धर्मों के
और रोटी है सियायत की जिसे अपनी भूख के हिसाब से
सेंकी जाती है. कविता का एक अर्थ यह भी होता है कि
वह सभी का भला चाहती है, हर क्षण उपकार के पक्ष में

खड़ी रहती है. आंसू पोछने का काम करती है और हर हाल
में किसी से भी नहीं डरती है. कवि को कहीं और धर्मगाहों
में भटकने की ज़रूरत नहीं है.

ग़ज़ल एक गेय विधा है गीत की तरह. गाये जाने पर
ग़ज़ल के अर्थ खुलकर अपने आप समझ में आने लगते हैं.
किसी की भी ग़ज़ल पढ़ते समय अच्छी नहीं लगती. ग़ज़ल
को पढ़ने के क्रम में यदि हम उसे अपनी लय में गायें या
गुनगुनायें तो एक अनोखा आनंद प्राप्त होगा. मगर हम ऐसा
नहीं कर पाते जबकि करना चाहिए. आप एक बार इस नुस्खे
को आजमा कर देखें.

ग़ज़ल में कविता होती है ज़िंदगी की, मधुरता होती
है. इसमें इतनी शक्ति होती है, नज़ाकत होती है, तहजीब
होती है कि यह अपने में आपको डूबो सकती है. ग़ज़ल
कभी डूब नहीं सकती है. हर दम तैरती रहेगी हमारी आंखों
में. बशर्ते उसे आप ध्यान से सुनें, पढ़ें, गायें तभी यह
संप्रेषणीय होती है ठीक-ठीक. एक अच्छी ग़ज़ल में अच्छी
नौद की खुराक होती है.

नर पिशाचों के लिए माफी है और है प्यार की
उत्कंठा. रसगंध है इन पंक्तियों में — 'कोई फर्क न रह जाये
होली या कि ईद मने, आओ प्यार के रंगों से खेलें हम
खुल्लम-खुल्ला. राम भी उसको माफ़ करे रब भी उसको
माफ़ करे, करता है जो लोहू का अंजुरी में भरकर कुल्ला.'

ग़ज़लों की बुनावट में कहीं-कहीं विषय से भटकाव
भी देखने को मिलता है. इस भटकन से ही विरोधाभास भी
उत्पन्न होता रहता है.

समस्त ग़ज़लों को पढ़ने के बाद मैं यह कहने से
अपने को रोक नहीं सका कि चारों तरफ़ प्रश्नों की बारिश
है. कई तरह के प्रश्नों से मुठभेड़ करके अपनी ग़ज़ल को
एक नयी ऊंचाई देने में पूरी तरह से कामयाबी हासिल करने
का सफल प्रयास किया है प्रकाश श्रीवास्तव ने. इनकी
ग़ज़लों में अच्छी तमन्नाओं का प्रदर्शन है, परंपरा से प्रेम
रखने की गुहार है. समय का सच है, भरपूर संवेदनाएं हैं.
गहरी चिंतन धारा है, विनम्रता की पराकाष्ठा है. दबंगता का
भी अभिमान है, नयी बात है, गद्दारों से बचने के रास्ते हैं.
सरलता का अद्भुत आश्चर्य है, परिवेश की सच्चाइयां हैं.
प्यार की बातें हैं, जीवन की सौगातें हैं और भी है बहुत कुछ
तो क्यों नहीं प्रकाश श्रीवास्तव का ग़ज़ल संग्रह—'रोशन
क़ैद हुई कातिलों की मुट्ठी में' पढ़कर देखा जाये.

कुछ बानगी का सुख आपके लिए परोस रहा हूं
अन्यथा न लेंगे— 'सूर्य आकाश में ही ढलता है, तू भला

किसलिए उछलता है, बोटियां तेरे जिस्म में भी हैं, किसलिए मछलियों को तलता है.' 'कैसे गाऊं गीत मनोहर, भावों की सूखी सरिता है, लिखता जाता हूं हर पल मैं, हर कविता अंतिम कविता है.' 'खून इंसान का जब उबलता है वक्रत तब करवटें बदलता है, कुर्सियां लड़खड़ाने लगती हैं, एक बागी अगर टहलता है. जीव कब तक भ्रमेगा भला सृष्टि में, जिंदगी के लिए मरन चाहिए, तुमसे संबंध यूं जोड़ता मैं नहीं, लाश के वास्ते भी कफ़न चाहिए.'

सभी गज़लें हिंदी की गज़ल विधा में अपनी अलग पहचान की तलाश में हैं.

✍️ ए-१३/६८, भगतपुरी, प्रल्हादघाट,
वाराणसी-२२१००१

अपने समय का सही प्रतिबिंब रमेश हठीला

उजला आसमां (क. सं.) : संगीता स्वरूप 'गीत'
प्रकाशक : शिवना प्रकाशन, सम्राट कॉम्प्लेक्स बेसमेंट,
सीहोर-४६६००१. मू. १२५ रु.

संगीता जी की कविताओं के माध्यम से उनकी काव्य यात्रा को जानने का अवसर मिला. संगीता जी की ये कविताएं उस नये युग की कविताएं हैं जहां पर कविताओं को प्रकाशन के लिए किसी संपादक की कृपादृष्टि पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है. यह इंटरनेट का युग है जहां सब कुछ लेखक के हाथ में आ गया है. हालांकि इस सबके दुष्परिणाम भी सामने आये हैं तथा कविता के नाम पर इंटरनेट पर हर कोई कुछ भी लिख कर परोस रहा है. और इसी कारण इस लेखन को गंभीर साहित्य की श्रेणी में नहीं रखा जा रहा है. लेकिन ऐसे समय में जब इंटरनेट की कविताओं को बहुत महत्व नहीं दिया जा रहा है, उस समय में संगीता जी की कविताएं साहित्य के प्रतिमानों पर खरी उतरती हुईं मानो इस बात का मुखर विरोध कर रही हैं कि इंटरनेट पर गंभीर साहित्य नहीं लिखा जा रहा है. ये सारी कविताएं किसी भी साहित्यिक पत्रिका में प्रकाशित होने वाली कविताओं से किसी भी रूप में कम नहीं हैं. इसके अलावा जो बात संगीता जी की कविताओं में प्रमुख रूप से दिखाई देती है वह है सरोकारों के प्रति सजगता. वे साहित्य के सरोकारों को बिल्कुल भी भूली नहीं हैं, यह बात उनकी कविताओं

से पता चलती है. जैसे भ्रूण हत्या पर संगीता जी की कविता की ये पंक्तियां मन को एकबारगी झकझोर जाती हैं—

इस बार भी परीक्षण में / कन्या-भ्रूण ही आ गया है/इसीलिए बाबा ने मेरी मौत पर/ हस्ताक्षर कर दिया है.

एक और कविता इसी प्रकार की है जो गहरे प्रश्न छोड़ती हुई एक सन्नाटे को भेदती हुई समाप्त होती है. पूरी कविता मानो उस पीड़ा के राग पर रची गयी है जो पीड़ा आज पृथ्वी की उस आधी आबादी की पीड़ा है जिसे नारी कहते हैं. जब यह कविता समाप्त होती है तो आधी आबादी के लिए शोक गीत की गूँज मन में छोड़ जाती है— एक नवजात कन्या शिशु/जो कचरे के डिब्बे में/ निर्वस्त्र सर्दी से ठिठुर/दम तोड़ चुका था.

संगीता जी की एक और कविता बहुत गहरे अध्ययन की मांग करती है, और यह कविता है 'गांधारी' इस कविता में कवयित्री अपने सर्वश्रेष्ठ को शब्दों में फूंकने में सफल रही हैं. कवयित्री ने गांधारी के माध्यम से जो प्रश्न उठाये हैं वे आज भी सामयिक हैं. गांधारी के चरित्र को आधार बना कर संगीता जी ने कई बहुत अच्छे प्रयोग कविता में किये हैं. और यह कविता मानो एक दस्तावेज़ की तरह आरोप-पत्र दाखिल करती हुई गुजरती है —

जब लड़खड़ाते धृतराष्ट्र तो/ तुम उनका संबल बनतीं/ पर तुमने तो होकर विमुख / अपने कर्तव्यों को त्याग दिया.

संगीता जी की कविताओं में नारी के स्वाभिमान के प्रति एक प्रकार की अतिरिक्त चेतना भरी हुई साफ़ दिखाई देती है. ये कविताएं नारी का अधिकार किसी से मांग नहीं रही हैं बल्कि नारी को ही जगा कर कह रही हैं—

और फिर एक ऐसे समाज की/रचना होगी/जिसमें नर और नारी की/ अलग-अलग नहीं/ बल्कि सम्मिलित संरचना/ निखर कर आयेगी.

संगीता जी की कविताओं में कुछ ऐसा विशिष्ट है जो उनकी कविताओं को आम कविताओं से अलग करता है. ये कविताएं अपने समय का सही प्रतिबिंब प्रस्तुत करती हैं. उनके काव्य संग्रह का शीर्षक 'उजला आसमां' वास्तव में स्त्री के भविष्य की ओर इंगित करता है. और ये कविताएं उस आकाश को पाने की कोशिश में समूची नारी जाति की ओर से एक क़दम की तरह हैं. यह क़दम सफल हो, मेरी शुभकामनाएं.